श्रीश्रीगुरु गौरांगौ जयतः

भक्ति–तत्त्व–विवेक

ॐविष्णुपाद श्रीश्रील ठाकुर भक्तिविनोद विरचित

श्रीगौड़ीय–वेदान्त–समितिके संस्थापक
श्रीकृष्णचैतन्यदशमाधस्तनान्वयवर श्रीगौड़ीयाचार्यकेशरी
जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद
श्रीश्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
अनुग्रहीत
त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा अनुदित एवं सम्पादित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

प्रकाशक—श्रीभक्तिवेदान्त माधव महाराज

चतुर्थ संस्करण—१०००० प्रतियाँ

नित्यलीला प्रविष्ट श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज की तिरोभाव तिथि।

श्रीचैतन्याब्द ५१९

१७ अक्टूबर, २००५

प्राप्ति स्थान :

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ,
मथुरा (उ॰प्र॰)
✆ २५०२३३४

श्रीरूप-सनातन गौड़ीयमठ,
दानगली, वृन्दावन (उ॰प्र॰)
✆ २४४३२७०

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ, दसविसा,
राधाकुण्ड रोड, गोवर्धन (उ॰प्र॰)
✆ २८१५६६८

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीयमठ,
कोलेरडांङ्गा
नवद्वीप (प॰बं॰)

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ,
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली,
✆ २५५३३५६८

खण्डेलवाल एण्ड संस,
अठखम्बा बाजार, वृन्दावन
✆ २४४३१०१

प्रस्तावना

श्रुति, स्मृति, पुराण, महाभारत, रामायण और प्रसिद्ध-प्रसिद्ध वैष्णवाचार्योंके ग्रन्थोंमें भगवद्भक्तिका प्रचुर महात्म्य दृष्टिगोचर होता है। शुद्धाभक्तिका स्वरूप जानकर यथार्थरूपमें साधन करनेसे अनायास ही भवसागरको पार करके चरम प्रयोजन रूप कृष्ण-प्रेमको प्राप्त किया जा सकता है। शुद्धा-भक्ति की बात ही अलग रहे, भक्तिके तनिक आभाससे ही अर्थ, धर्म, काम, मोक्षरूप चतुर्वर्गकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिए साधारणतः लोग भक्तिकी ओर आकृष्ट होते हैं। परन्तु शुद्धा भक्तिका स्वरूप न जाननेके कारण कनक, कामिनी और प्रतिष्ठा-लोलुप कपटी भक्तोंके फेरमें पड़कर कहीं कपट-भक्ति या भक्तिविरोधी भावनाओंको भक्ति मानकर और कहीं निर्विशेष मुक्तिवादियोंके फेरमें पड़कर भक्तिके आभास या प्रतिबिम्बको भक्ति मानकर वञ्चित होते हैं। उन्हें भक्तिका यथार्थ फल नहीं मिलता।

परम करुणामय भक्ति-रसाचार्य श्रीरूप गोस्वामीने श्रीभक्ति-रसामृत-सिन्धु-ग्रन्थमें शास्त्रीय प्रमाणोंके आधार पर शुद्धा भक्तिके यथार्थ स्वरूपका निरूपण किया है। साथ ही उन्होंने छल-भक्ति, आभास-भक्ति, प्रतिबिम्ब-भक्ति, कर्ममिश्रा भक्ति, ज्ञानमिश्रा-भक्ति, आरोप-सिद्धा-भक्ति और संगसिद्धा भक्ति आदिके स्वरूपोंका भी वर्णन किया है। भक्तिके क्षेत्रमें यह सर्वत्र मूर्द्धन्य प्रामाणिक कोटिका ग्रन्थ माना जाता है। परन्तु यह ग्रन्थ संस्कृत भाषामें है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने सर्वसाधाारणके उपकारके लिए श्रीभक्ति-रसामृत-सिन्धुके इन

गंभीर विचारोंको सहज सरल बोधगम्य बँगला भाषामें लिपिबद्ध किया।

श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर कलियुग-पावनावतारी शचीनन्दन श्रीचैतन्य महाप्रभुके अन्तरङ्ग परिकरोंमें से एक हैं। श्रीगौर पार्षद छः गोस्वामियों, श्रीकृष्णदास कविराज, श्रीनरोत्तम ठाकुर और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती आदिके अप्रकट-लीला आविष्कारके लगभग १०० वर्षका पश्चात् काल श्रीगौड़ीय वैष्णव जगत्में अंधकार युग माना जाता है; क्योंकि इस कालमें इस सम्प्रदायमें कोई ऐसा प्रतिभाशाली आचार्य आविर्भूत नहीं हुआ, जो श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षाधाराको पूर्ववत् विशुद्ध रूपमें प्रवाहित कर सके। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ ही दिनोंमें श्रीमन्महाप्रभुके आचरित-प्रचारित प्रेम-धर्मके नामपर आउल, बाउल, कर्त्ताभजा, नेड़ा-नेड़ी, साँई, सहजिया, सखीभेखी, स्मार्त्त, जाति गोसाई आदि नाना प्रकारके असत्सम्प्रदायोंने अपने-अपने स्वकपोल-कल्पित जड़ीय कामना-वासना-मूलक दुराचारों और कुसिद्धान्तोंका प्रचार करना आरम्भ कर दिया। इन लोगोंने श्रीगौड़ीय वैष्णव समाजको इतना कलंकित कर दिया कि शिक्षित एवं सम्भ्रान्त व्यक्ति उसे अत्यन्त घृणाकी दृष्टिसे देखने लगे। धीरे-धीरे श्रीगौड़ीय भक्तिधारा लुप्तप्राय हो चली।

इसी समय श्रीसच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरका सन् १८३८ ई. में श्रीनवद्वीप धामके निकट 'वीरनगर' नामक ग्राममें (पश्चिम बंगालमें) एक उच्चशिक्षित एवं संभ्रान्त परिवारमें शुभ आविर्भाव हुआ। इन्होंने संस्कृत, बंगला, हिन्दी और अँग्रेजी आदि विभिन्न भाषाओंमें लगभग एक सौ प्रामाणिक भक्ति ग्रन्थोंकी रचना कर गौड़ीय-जगतमें युगान्तर ला दिया—उसके

लुप्त गौरवकी पुनः प्रतिष्ठा की। इस महान् कार्यके लिए गौड़ीय वैष्णव समाज इन महापुरुषका चिर-ऋणी रहेगा। वर्तमान विश्वमें भक्तिभागीरथीको पुनःप्रवाहित करनेवाले ये श्रीभक्ति विनोद ठाकुर आधुनिक भगीरथ या सप्तम गोस्वामीके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनका यह "भक्तितत्त्व-विवेक" नामक उपस्थित ग्रन्थ चार प्रबन्धोंका अनुवाद है, जो श्रीभागवत-पत्रिकाके (समितिके मुखपत्र, श्रीकेशवजी गौड़ीय मठसे प्रकाशित होनेवाली मासिक हिन्दी पारमार्थिक पत्रिका) चतुर्थ एवं पञ्चम वर्षमें क्रमशः प्रकाशित हो चुके हैं; वही इस ग्रन्थका प्रथम संस्करण है। अब श्रद्धालु पाठकोंके आग्रह एवं श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके वर्तमान सभापति आचार्यकी प्रेरणासे वही पुनः नवीन ग्रन्थाकारमें प्रकाशित हो रहा है।

जिनकी अहैतुकी कृपासे श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके माध्यमसे श्रीगौड़ीय भक्ति-साहित्यका हिन्दी संस्करण क्रमशः प्रकाशित हो रहा है, उन श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं समितिके अन्तर्गत भारतव्यापी गौड़ीय मठोंके प्रतिष्ठाता आचार्य केशरी जगद्गुरु अस्मदीय परमाराध्य ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव गोस्वामीचरणकी परम पुनीत श्रीविरह-तिथिके दिन उन्हींके श्रीकरकमलोंमें आज हम इस ग्रन्थको श्रद्धा पुष्पाञ्जलिके रूपमें समर्पण करते हैं। अदोषदर्शी, वात्सल्यके घन-विग्रह वे हमारे अन्तःकरणमें कृपा-शक्तिका संचार करें, जिससे हम अधिकरूपमें उनकी मनोऽभीष्ट सेवा कर सकें—यही उनके श्रीचरणकमलोंमें सकातर प्रार्थना है।

अंतमें श्रद्धालु पाठकोंसे मेरा नम्र-निवेदन है कि वे विशेष मनोयोगसे इस ग्रन्थका अनुशीलन करें तथा शुद्धाभक्तिके

स्वरूपको अवगत होकर श्रीचैतन्य महाप्रभुके आचरित-प्रचारित विमल श्रीकृष्ण-प्रेमका आस्वादन करें। श्रीकृष्ण-प्रेम ही समस्त शास्त्रोंका चरम प्रयोजन है। अत्यन्त शीघ्रतासे इस ग्रन्थका प्रकाशन होनेके कारण कुछ-मुद्रण-त्रुटियोंका रहना संभव है। सदय पाठकोंसे उसके लिए क्षमा-प्रार्थना है।

श्रीराधा अष्टमी
गौराब्द ५१९

श्रीगुरु-वैष्णव-कृपालेश प्रार्थी
त्रिदिण्डभिक्षु
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

चतुर्थ संस्करणका सम्पादकीय वक्तव्य

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग और श्रीश्रीराधाविनोदविहारीजीकी अनुकम्पासे 'भक्ति-तत्व-विवेक' ग्रन्थका चतुर्थ संस्करण पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। जिनकी अहैतुकी कृपासे गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन द्वारा श्रीगौड़ीय भक्ति-साहित्यका हिन्दी संस्करण क्रमशः प्रकाशित हो रहा है, उन आचार्य केशरी जगद्गुरु अस्मदीय परमाराध्य ॐ विष्णुपाद अष्टोतरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामीकी परम पुनीत श्रीविरह तिथिके दिन उन्हींके श्रीकरकमलोंमें आज हम इस ग्रन्थको श्रद्धा पुष्पाञ्जलिके रुपमें समर्पण करते हैं।

चतुर्थ संस्करणके प्रकाशन हेतु श्रीमान् ओमप्रकाश ब्रजवासी, श्रीमान् कृष्णकृपा ब्रह्मचारी तथा श्रीमान् चिदानन्द ब्रह्मचारी आदिकी सेवाचेष्टा सराहनीय है। श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग-गान्धर्विका-गिरिधारी इन पर प्रचुर कृपा-आशीर्वाद वर्षण करें-यही मेरी उनके श्रीचरणोंमें प्रार्थना है।

श्रीइन्दिरा एकादशी	श्री गुरुवैष्णव-कृपालेश-प्रार्थी
५१९ श्रीचैतन्याब्द	श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

भक्तितत्त्व–विवेक

प्रथम अध्याय

भक्तिका स्वरूप

युगपद्राजते यस्मिन् भेदाभेद विचित्रता।
वन्दे तं कृष्णचैतन्यं पञ्चतत्त्वान्वितं स्वतः॥
प्रणम्य गौरचन्द्रस्य सेवकान्, शुद्धवैष्णवान्।
'भक्तितत्त्व विवेका' ख्यं शास्त्रं वक्ष्यामि यत्नतः॥
विश्ववैष्णव दासस्य क्षुद्रस्याकिञ्चनस्य मे।
एतस्मिन्नुद्यमे ह्येकं बलं भागवती क्षमा॥

परम आदरणीय वैष्णवजन! विशुद्ध हरि–भक्तिका आस्वादन करना तथा इसका प्रचार–प्रसार करना ही हमारा एकमात्र उद्देश्य है, इसलिए हमारा सबसे पहला कर्तव्य 'शुद्ध हरि–भक्तिका स्वरूप' निर्णय करना है। इस अनुशीलनसे दो लाभ होंगे। पहला यह कि विशुद्ध हरि–भक्तिका स्वरूप जान लेने पर भक्तिके विषयमें हमारा सारा अज्ञान दूर हो जायेगा, जिससे हम विशुद्ध भक्तिका अमिश्रभाव से आस्वादनकर मनुष्य–जीवनको सार्थक कर सकेंगे। दूसरा लाभ यह होगा कि हम भक्तिके नामपर चलनेवाले अर्वाचीन दूषित एवं मिलावटी मतवादोंसे अपनी रक्षा भी कर सकेंगे।

दुर्भाग्यवश आजकल जनसमाजमें भक्तिके नामपर कर्ममिश्रा, ज्ञानमिश्रा, योगमिश्रा आदि मिश्राभक्ति तथा नाना–प्रकारके दूषित एवं कल्पित मतवाद समूह महामारीके कीटाणुओंकी भाँति

यत्र-तत्र सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं। इससे जनसाधारण इन दूषित और मिश्रितकुमतोंको ही भक्ति समझकर इनका आदर करते हैं तथा शुद्ध-भक्तिसे वंचित रह जाते हैं। दूषित एवं मिश्रित मतवाद समूह हमारे सबसे बड़े शत्रु हैं। जो लोग यह कहते हैं कि भक्ति कुछ नहीं है, ईश्वर एक काल्पनिक भान मात्र है, मनुष्योंने ही ईश्वरकी कल्पना की है। भक्ति एक चित्त-व्याधि है, इससे हमारा कोई भी लाभ नहीं है। ऐसे लोग विरोधी होनेपर भी हमारा अधिक अनिष्ट नहीं कर पाते हैं, क्योंकि हमलोग ऐसे लोगोंको शीघ्र ही पहचान लेते हैं और उनसे दूर रहते हैं। किन्तु जो लोग यह कहते हैं कि भगवद्-भक्ति ही सर्वोत्तम धर्म है, परन्तु उसके साथ ही साथ स्वयं शुद्धभक्तिके विपरीत आचरण करते हैं तथा दूसरोंको भी शुद्धभक्तिके विपरीत सिद्धान्तोंकी शिक्षा भी देते हैं, ऐसे लोग हमारा अधिकतर अहित करते हैं। भक्तिके नामपर विपरीत तत्त्वोंकी शिक्षा देकर अन्तमें हमें भगवद्-भक्तिके विपरीत मार्गपर ला देते हैं। इसलिए हमारे पूर्वाचार्योंने यत्नपूर्वक शुद्धभक्तिका स्वरूप निर्णय कर हम लोगोंको दूषित मिश्रमतोंसे बचानेके लिए बार-बार सावधान किया है। हम क्रमशः उनके उपदेशोंका अनुशीलन करेंगे। उन्होंने शुद्धभक्तिका स्वरूप निर्णय करनेके लिए अनेकानेक ग्रन्थोंकी रचनाएँ की है। इनमें से 'श्रीभक्ति रसामृत-सिन्धु'एक अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है। उक्त ग्रन्थमें श्रीरूप गोस्वामीने शुद्धा भक्तिका साधारण लक्षण निर्णय करते हुए लिखा है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

उपरोक्त श्लोकके एक-एक शब्दका विवेचन करनेकी आवश्यकता है, अन्यथा भक्तिका लक्षण समझमें नहीं आ सकता है। इस श्लोकमें जो उत्तमाभक्ति कहा गया है, उसका तात्पर्य क्या है? क्या उत्तमाभक्ति शब्दसे यह समझना होगा कि एक 'अधमा भक्ति' भी है? या और कुछ? 'उत्तमाभक्ति'का तात्पर्य यह है कि भक्तिरूपी लता जिस समय पूर्ण शुद्ध या निर्मल अवस्थामें होती है, तब उसे 'उत्तमा भक्ति' कहते हैं। जैसे—निर्मल जल कहनेसे शुद्ध जलका बोध होता है अर्थात् उस जलमें कोई दूसरा द्रव्य, गन्ध या रंग मिश्रित नहीं है। उसी प्रकारसे "उत्तमा भक्ति", शब्दसे निर्मल, अमिश्र, केवला और अकिंचना भक्तिका बोध होता है। इन विशेषणोंके द्वारा भक्तिके विपरीत भावको ग्रहण नहीं करना चाहिए। विपरीत भाव वर्जित होनेसे शुद्ध स्वभाव ही परिलक्षित होता है। केवल 'भक्ति' शब्दका व्यवहार करनेसे जो अर्थ-बोध होता है, इन समस्त विशेषणों से युक्त भक्ति शब्दके द्वारा भी उसी अर्थका बोध होता है। तब क्या भक्ति-रसाचार्य श्रीरूप गोस्वामीने निरर्थक ही 'उत्तमा' विशेषणका प्रयोग किया है? नहीं, जिस प्रकार जल पीने वाले व्यक्ति स्वभावतः ही यह पूछते हैं कि-क्या यह जल निर्मल है? उसी प्रकार जन-समाजमें अधिकांश "मिश्राभक्ति" लक्ष्यकर आचार्योंने उत्तमा भक्तिका लक्षण निरूपण करना अत्यन्त आवश्यक समझा है। यथार्थ में रसाचार्य श्रीरूप गोस्वामीने केवला भक्तिका ही लक्षण निरूपण किया है। छल-भक्ति, प्रतिबिम्ब-भक्ति, छाया-भक्ति, कर्ममिश्रा-भक्ति, ज्ञानमिश्रा-भक्ति आदि शुद्धाभक्ति नहीं हैं—इसका क्रमशः विवेचन आगे प्रस्तुत किया जायेगा।

भक्तिका स्वरूप-लक्षण क्या है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है—'आनुकूल्यमय कृष्णानुशीलन' ही भक्ति है। इस श्लोकमें अनुशीलन शब्दका अर्थ दुर्गमसंगमनी-टीकाकार श्रीजीवगोस्वामीजीने लिखा है कि अनुशीलन शब्दके दो अर्थ होते हैं। पहला प्रवृत्ति निवृत्तिस्वरूप शरीर, मन और वाणीकी चेष्टारूप अनुशीलन। दूसरा प्रीति-विषयात्मक मानस भावरूप अनुशीलन। अनुशीलन दो प्रकारका होनेपर भी मानस भावरूप अनुशीलन चेष्टारूप अनुशीलनके अन्तर्गत ही है। अतएव चेष्टा और भाव परस्पर आधारित होते हैं और अन्तमें चेष्टा ही एकमात्र अनुशीलनके लक्षणके रूपमें पर्यवसित होती है। शरीर, मन और वाणीकी चेष्टाएँ कृष्णके लिए अनुकूल होनेपर ही भक्ति नाम धारण करती हैं। कंस और शिशुपाल कृष्णके प्रति सदा-सर्वदा शरीर, मन और वाणीकी चेष्टाएँ करते तो हैं, परन्तु उनकी वैसी चेष्टाओंको भक्ति नहीं कहा जायेगा। क्योंकि उनकी चेष्टाएँ कृष्ण-प्रीतिके अनुकूल नहीं, वरन् प्रतिकूल हैं। प्रतिकूल चेष्टाओंको भक्ति नहीं कहा जाता। भक्ति शब्द भज्-धातुसे निष्पन्न होता है। गरुड़ पुराणमें ऐसा कहा गया है—

भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः।
तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिः साधन-भूयसी॥

इस श्लोकके अनुसार कृष्ण-सेवाको ही भक्ति कहा गया है। सेवा ही भक्तिका स्वरूप लक्षण है।

मूल श्लोकमें 'कृष्णानुशीलन' शब्दका प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि 'केवल भक्ति' शब्दके चरम

उद्‌देश्य एकमात्र स्वयं-भगवान श्रीकृष्ण हैं। कृष्णके नारायण आदि दूसरे-दूसरे रूपोंके प्रति भी भक्ति शब्दका प्रयोग होता है, किन्तु श्रीकृष्ण-रूपके प्रति भक्तिकी जैसी पूर्ण क्रिया लक्षित होती है, वैसी अन्यान्य रूपोंके प्रति नहीं। इस विषयका विवेचन उपयुक्त प्रसंग आनेपर विस्तृत रूपसे किया जायेगा। अभी इतना जान लेना आवश्यक है कि भगवत्तत्त्व ही भक्तिका एकमात्र विषय है। मूलतः परतत्त्व एक होनेपर भी वह तीन रूपोंमें प्रकाशित है-ब्रह्मतत्त्व, परमात्मतत्त्व और भगवत्तत्त्व। जो लोग ज्ञानमार्गके द्वारा तत्त्व वस्तुका दर्शन करनेका प्रयत्न करते हैं, वे ब्रह्मतत्त्वके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देख पाते हैं। वे लोग मायिक जगत्‌के गुणोंका व्यतिरेक भावसे चिन्तन करते-करते अर्थात् नेति-नेति कहते हुए मायाको पार करनेके लिए जो आध्यात्मिक चेष्टा करते हैं, उसके द्वारा वे एक अचिन्त्य, अव्यक्त, निराकार, निर्विकार ब्रह्म दर्शनकी कल्पना करते हैं। किन्तु मायिक गुणोंका अभाव कल्पना करना ही वस्तुका यथार्थ दर्शन नहीं है। वे लोग यह सोचते हैं कि मायिक जगत्‌के नाम, रूप, गुण और क्रियाएँ—ये सभी नश्वर एवं दुःखपूर्ण हैं, इसलिए मायातीत ब्रह्मका कोई नित्य नाम, कोई नित्य रूप, कोई नित्य गुण एवं कोई नित्यलीला आदि कुछ भी नहीं होता। आध्यात्मिक तार्किक जन निर्गुण श्रुतियोंको प्रमाणके रूपमें प्रस्तुत करते हैं—वे मन और वाणीसे अगोचर हैं, उनके कान नहीं है, उनके अंग-प्रत्यंग नहीं हैं इत्यादि। यह ठीक है, परन्तु कविकर्णपूरकृत श्रीचैतन्यचन्द्रोदयधृत श्रीमन् महाप्रभुके वाक्योंपर विचार करनेसे इन तर्कोंका पूर्ण रूपसे समाधान हो जाता है।

या या श्रुतिर्जल्पति निर्विशेषं सा साविधत्ते सविशेषमेव।
विचारयोगे सति हन्त तासां प्रायो बलीयः सविशेषमेव॥

जिन-जिन श्रुति-वाक्योंमें निर्विशेष तत्त्वकी बात कही गयी है, उन-उन श्रुति वाक्योंमें ही सविशेष तत्त्वका भी उल्लेख है। श्रुतिवाक्योंका भलीभाँति समन्वय करनेपर सविशेष तत्त्व ही बलवान दीख पड़ता है। जैसे—किसी जगह श्रुति कहती है कि उनके हाथ, पैर और आँखें नहीं हैं, परन्तु उसमें देखना होगा कि वे सब कुछ करते हैं, सर्वत्र गमन करते हैं और सब कुछ श्रवण करते हैं। अब इसकी शुद्ध मीमांसा यह है कि बद्ध जीवोंकी तरह उनके प्राकृत हाथ-पैर आदि नहीं हैं, उनका श्रीविग्रह अप्राकृत है अर्थात् उनका वह श्रीविग्रह प्रकृतिके चौबीस तत्त्वोंसे अतीत विशुद्ध चिन्मय है।

फलतः केवल ज्ञान मार्गका अनुशीलन करनेसे निराकार ब्रह्म ही चरम तत्त्व प्रतीत होते हैं। इसमें सूक्ष्म बात यह है कि 'केवल ज्ञान' प्राकृत वस्तु है अर्थात् प्राकृत जगत्में हम जो कुछ जानकारी प्राप्त करते हैं अथवा जो भी सिद्धान्त स्थिर करते हैं, वह प्रकृतिके ऊपर निर्भर करके ही स्थिर करते हैं, इसलिए वह सिद्धान्त या तो जड़ीय सिद्धान्त होता है या व्यतिरेक सिद्धान्त द्वारा जड़से विपरीत एक तत्त्व गठित हो जाता है, किन्तु उसके द्वारा यथार्थ चिन्मय तत्त्वकी उपलब्धि नहीं होती। श्रीजीव गोस्वामीने भक्तिसंदर्भमें आध्यात्मिक ज्ञानवादियोंके प्राप्य तत्त्वका निरूपण इस प्रकार किया है—

प्रथमतः श्रोतृणामेव विवेकस्तावानेव यावता जगदतिरिक्तं चिन्मात्रं वस्तूपस्थितं भगवति। तस्मिंचिन्मात्रेपि वस्तुनि ये विशेषाः स्वरूपभूतशक्ति-सिद्धाः भगवत्त्वादिरूपा वर्त्तन्ते तांस्तु ते

विवेक्तुं न क्षम्यन्ते। यथा रजनी-खण्डिनी ज्योतिर्मात्रत्वेपि ये मण्डलान्तर्बहिश्च दिव्य-विमानादि-परस्पर-पृथग्भूत-रश्मि-परमाणुरूपा विशेषा स्तांश्चर्म-चक्षुषस्तद्वत्। पूर्ववच्च यदि महतः कृपाविशेषण दिव्य दृष्टिता भवति तथा विशेषोपलब्धिश्च भवेत् न च निर्विशेष चिन्मात्रब्रह्मानुभवेन तल्लीन एव भवति। इदमेव स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते इत्यनेन श्रीगीतासूक्तम्। स्वस्य शुद्धस्य आत्मनो भावो भावना आत्मनाधिकृत्य वर्तमानत्वात् अध्यात्म-शब्देनोच्यते इत्यर्थः॥"

श्रीजीव गोस्वामीके इन वाक्योंका तात्पर्य यह है कि नेति-नेति वृत्तिके द्वारा जब आध्यात्मिक ज्ञान होता है, तब मायाके अतिरिक्त चिन्मात्र वस्तुका दिग्दर्शन मात्र होता है। उसके भीतर जो चिद्विशेष है, उसका दर्शन नहीं होता। यदि उस समय सविशेष तत्त्वविद् वैष्णव गुरु मिल जाएँ, तभी ब्रह्मलयरूप अनर्थसे रक्षा हो सकती है।

केवल योग मार्गके अनुसार जो तत्त्वका अनुशीलन करते हैं, वे अन्तमें विश्वव्यापी परमात्म-तत्त्व तक पहुंच पाते हैं, शुद्ध भगवत्तत्त्व तक नहीं पहुंच पाते। परमात्मा, ईश्वर, सगुण विष्णु आदि समस्त शब्द योग मार्गके अनुसंधेय हैं। इस मार्गमें भक्तिके कतिपय लक्षण पाते हैं, परन्तु शुद्ध भक्ति नहीं। साधारणतः भागवतधर्मके नामपर संसारमें जितने भी धर्म हैं, वे सभी परमात्मानुसंधान रूप योग-विशेष हैं। ये सब अन्तमें भागवत धर्म तक पहुंचा ही दें—ऐसी आशा नहीं की जा सकती। क्योंकि योग मार्गके सोपानोंसे तत्त्व वस्तु तक पहुंचनेमें बहुत सी बाधाएँ हैं तथा अन्तमें अहंग्रहोपासना (मैं ही ब्रह्म हूँ) द्वारा केवल आध्यात्मिक ज्ञानके गड्ढेमें ही

गिरनेकी अधिक संभावना होती है। इस मार्गमें परमेश्वरके नित्य विग्रहका दर्शन और चित्-तत्त्वके विशेष धर्मकी प्राप्तिका सुयोग नहीं है। उपासना-कालमें जिस विग्रहकी कल्पना की जाती है, वह या तो विराट् मूर्ति होती है अथवा हृदयके मध्य स्थित हिरण्य-गर्भ मूर्ति होती है, वास्तवमें उन मूर्तियोंकी नित्यता नहीं है। इसे परमात्म दर्शन कहते हैं। आध्यात्मिक ज्ञानकी अपेक्षा यह श्रेष्ठ होने पर भी सर्वांग-सुन्दर और सिद्धमार्ग नहीं हैं। अष्टांग-योग, हठयोग, कर्मयोग आदि योगसमूह इसी मार्गके अन्तर्गत हैं। राजयोग या अध्यात्म योग कुछ हद तक इस मार्ग पर स्थित होने पर भी अधिकांश क्षेत्रोंमें ज्ञान मार्गके ही अन्तर्गत है। सिद्धान्त यह है कि परमात्म दर्शनको शुद्धाभक्ति नहीं कहा जा सकता। इस विषयमें 'भक्ति-संदर्भ' में कहा गया है कि *"अन्तर्यामित्वमय-मायाशक्तिप्रचुर-चिच्छक्त्यश विशिष्टं परमात्मेति।"* अर्थात् जगत्की सृष्टि होनेके पश्चात् भगवानका जो अंश मायाशक्तिके अधीश्वर रूपसे जगतमें प्रवेश कर जगतके नियामक रूपमें विराजमान है, वही जगदीश्वर या विश्वव्यापी परमात्मा हैं तथा इनमें चिच्छक्तिका प्रकाश कम तथा मायाशक्तिका प्रकाश अधिक होता है। इसलिए परम नित्य भगवत्त्वत्त्वसे इस तत्वकी न्यूनता स्वतः सिद्ध है।

केवल भक्ति-मार्ग द्वारा जो तत्त्व लक्षित होता है; उसीका नाम भगवान है। भक्ति-संदर्भमें भगवत्तत्त्वका लक्षण इस प्रकार लिखा है—*"परिपूर्ण-सर्वशक्ति-विशिष्ट भगवानिति"*। सम्पूर्ण शक्ति चिन्मय सर्व शक्तियोंसे युक्त तत्त्वका नाम भगवान है। जगत्की सृष्टि हो जाने पर परमात्मा रूप अंशद्वारा जगत्में अनुप्रविष्ट

होकर समस्त बिराडान्तर्यामी स्वरूपमें एवं जीवोंके अन्तर्भूत होकर क्षीरोदकशायी और गर्भोदकशायीके रूपमें विराजमान हैं। पुनः समस्त मायिक जगतके व्यतिरेक तत्त्वरूप निर्विशेष-आविर्भाव द्वारा ब्रह्मस्वरूपमें प्रकाशित होते हैं। अतएव भगवान ही मूलतत्त्व और परिपूर्ण वस्तुविशेष हैं। उनका स्वरूपविग्रह चिन्मय है। सम्पूर्ण आनन्द उनमें निवास करता है। उनकी शक्ति अचिन्त्य और अवितर्क्य है, वह किसी जीव-ज्ञान-गत विधिके अधीन नहीं है। उसी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे समग्र विश्वका और विश्वमें स्थित जीव-समूहका प्रादुर्भाव हुआ है। जीवशक्तिसे उत्पन्न जीव-समूह उनका (भगवानका) एकान्त आनुगत्य धर्म अर्थात् उनकी सेवा प्राप्तकर कृतार्थ हो जाता है। उस आनुगत्य धर्मकी नाम-भक्ति ही अपने चिन्मय नेत्रोंसे भगवानके असमोर्द्ध (जिसके न तो कोई बराबर हो और न जिससे बड़ा ही हो) सौंदर्यका दर्शन कराती है। ज्ञान और योग भगवानका स्पर्श करनेमें समर्थ नहीं है। ज्ञानको भगवतत्त्वके साथ जोड़ देनेसे वह तत्त्व स्वरूपहीन ज्योति-स्वरूप ब्रह्मके रूपमें प्रतीत होता है। यदि उनको योग मार्गसे देखा जाए, तो वे जड़ जगतमें छिपे हुए परमात्मा स्वरूपमें दीख पड़ते हैं। भक्ति अतिशय पवित्र वस्तु है। भक्ति कभी भी भगवत्ताकी हानि नहीं देख पाती। यदि कहीं देख भी लेती है, तो उसको सहन नहीं कर पाती है।

परमतत्त्वके इन त्रिविध आविर्भावोंमें भगवत्तत्त्व रूप आविर्भाव ही भक्तिका विषय है। परन्तु भगवदाविर्भावमें भी एक प्रकारका तात्त्विक भेद है। जहाँ स्वरूप शक्तिका पूर्ण ऐश्वर्य प्रकाशित है, वहाँ भगवदाविर्भाव परव्योमनाथ देवदेव

नारायण स्वरूपमें प्रकाशित होते हैं। और जहाँ स्वरूप शक्तिका पूर्ण माधुर्य प्रकाशित है, वहाँ भगवदाविर्भाव श्रीकृष्ण रूपमें प्रकाशित होते हैं। ऐश्वर्य सभी जगह बलवान होनेपर भी माधुर्यके प्रभावसे हीनप्रभ हो पड़ता है। जड़ जगतमें इस विषयकी कोई तुलना नहीं है, उसका कोई भी उदाहरण दिखाई नहीं पड़ता है। जड़ जगत्में ऐश्वर्य माधुर्य से अधिक बलवान होता है। परन्तु चिज्जगतमें ठीक इसके विपरीत होता है। वहाँ ऐश्वर्यकी अपेक्षा माधुर्य श्रेष्ठ और अधिक शक्तिशाली होता है। हे अन्तरंग भक्तगण! आप लोग एक बार ऐश्वर्यका ध्यान कर पीछे माधुर्य—तत्त्वको हृदयमें प्रेमके साथ लाकर देखें, ऐसा करनेसे यह तत्त्व समझ सकते हैं। जिस प्रकार जड़ जगतमें सूर्यके प्रकाशमें चन्द्रमाका प्रकाश लीन हो जाता है, हृदयमें माधुर्यका स्वाद उदित होने पर ऐश्वर्यका स्वाद अच्छा नहीं लगता। इसीलिए श्रीरूप गोस्वामीने लिखा है—

सिद्धान्ततस्त्व भेदेऽपि श्रीश–कृष्ण स्वरूपयोः।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः॥

नारायण और कृष्णस्वरूप सिद्धांतके विचारसे अभेद होनेपर भी रसकी अधिकतासे कृष्णरूप ही श्रेष्ठ है। क्योंकि रस–तत्त्वकी ऐसी ही महिमा है। आगे यह सब तत्त्व क्रमशः स्पष्ट होते जायेंगे। यहाँपर एकमात्र यही ज्ञातव्य है कि श्रीकृष्णके सम्बन्धमें आनुकूल्यमय अनुशीलन ही भक्तिका स्वरूप लक्षण है, जो बात मूल श्लोकमें कही गयी थी, वह सिद्ध हो गयी।

अन्याभिलाषितासे रहित होना और ज्ञान–कर्मादिसे अनावृत रहना—यह भक्तिका तटस्थ लक्षण है। *'विष्णुभक्ति प्रवक्ष्यामि*

यया सर्वमवाप्यते'—भक्ति-संदर्भके इस आधे श्लोकमें भक्तिके तटस्थ लक्षण का विवेचन हुआ है। इसका अर्थ यह है कि जिस विष्णु-भक्तिकी बात कही जा रही है; उस भक्तिके द्वारा जीव सब कुछ पा लेता है। प्राप्तिकी आशाका नाम ही अभिलाषिता है। 'अन्याभिलाषिता' शब्द से कोई यह न समझे कि भक्तिकी उन्नति और उसके उत्कर्षकी अभिलाषा भी परित्यज्य है। मेरी साधन-भक्ति भावावस्थाको प्राप्त करे, ऐसी अभिलाषा उत्तम है, परन्तु इसके अतिरिक्त अन्यान्य समस्त प्रकारकी अभिलाषाएँ परित्याग करने योग्य हैं। अन्य अभिलाषाएँ दो प्रकारकी होती हैं—भुक्ति (भोगों)की अभिलाषा और मुक्तिकी अभिलाषा। श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

भुक्ति–मुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते।
तावत् भक्ति सुखास्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

जब तक भुक्ति और मुक्तिकी कामनारूप दो पिशाचियाँ हृदयमें वर्तमान रहती हैं, तब तक स्वरूपसिद्धा भक्तिका पवित्र सुख तनिक भी उदय नहीं होता। कायिक और मानसिक भोग मात्र भुक्ति शब्दके अन्तर्गत हैं। इस जन्ममें निरोग रहना, सुस्वादु भोजनकी प्राप्ति, बल-वीर्य की प्राप्ति, धन, जन, स्त्री, पुत्र-कन्या, यश और जयकी प्राप्ति यह सब कुछ भुक्तिके अन्तर्गत है। मरनेके बाद ब्राह्मण-कुलमें जन्म, राजकुलमें जन्म, स्वर्गकी प्राप्ति, ब्रह्मलोककी प्राप्ति आदि समस्त प्रकारके पारलौकिक सुख भी भुक्ति ही हैं। अष्टांग योग, अष्टादश सिद्धियाँ और आठ प्रकारके ऐश्वर्य भी भुक्तिके ही अन्तर्गत हैं। भुक्तिकी पिपासासे मनुष्य कामके अधीन होकर काम-क्रोध आदि छः रिपुओंके वश हो पड़ता है। मत्सरता

आसानीसे हृदयपर अधिकार कर लेती है। अतः शुद्धा-भक्ति प्राप्त करनेके लिए भुक्तिकी कामना को सम्पूर्ण रूपसे दूर रखना चाहिए। भुक्ति-कामनाको छोड़नेके लिए बद्ध जीवोंको विषयोंका परित्याग कर वनमें जाना ही पड़ेगा—ऐसी बात नहीं है। वनमें जानेसे ही अथवा संन्यासीका वेश ग्रहण करनेसे ही भला भुक्ति क्यों छोड़ने चली? यदि हृदयमें भक्ति रहे, तो विषयों के बीच अनासक्त रूपसे रहनेपर भुक्ति हमारा पीछा छोड़ सकती है। इसलिए श्रीरूप गोस्वामीने कहा है—

रुचिमुद्वहतस्तत्र जनस्य भजने हरेः।
विषयेषु गरिष्ठोऽपि रागः प्रायो विलीयते॥
अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः।
निर्बन्धः कृष्ण-सम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥
प्रापञ्चिकतया बुद्धया हरि सम्बन्धि वस्तुनः।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते॥

जिस समय कृष्ण-भजनमें जीवकी रुचि होती है, उस समय जीवकी विषयोंके प्रति गाढ़ी आसक्ति रहनेपर भी वह क्रमशः लुप्तप्रायः हो पड़ती है। उस समय वे अनासक्त भावसे आवश्यकतानुसार विषयोंको ग्रहण करते हुए उन विषयोंको कृष्ण-सम्बन्धी जानकर जो आचरण करते हैं, उसे युक्त-वैराग्य कहते हैं। जो लोग हरि-सम्बन्धी वस्तुओंको प्रापञ्चिक (मायामय) जानकर जड़ीय मुक्तिकी कामनासे उनका त्याग कर देते हैं, उनका वैराग्य फल्गु या तुच्छ है। शरीरी जीवके लिए विषयोंका सम्पूर्ण रूपसे परित्याग करना संभव नहीं है। परन्तु विषयोंकी बहिर्मुखी प्रवृत्तिको दूरकर समस्त विषयोंमें भगवद्

भाव रखते हुए उन्हें ग्रहण करनेसे उसे विषय-भोग नहीं कहा जाता। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द—ये ही विषय हैं। संसारको इस प्रकार से देखना चाहिए कि संसारके समस्त रूप कृष्णसे सम्बन्धित दिखाई दें अर्थात् समस्त जीवोंको भगवानके दास-दासीके रूपमें देखें। बागबगीचों और नदीयोंको कृष्णके विहारस्थलोके रूपमें देखें। समस्त प्रकारके भोज्य पदार्थोंको कृष्णके उपभोग योग्य नैवेद्यके रूपमें दर्शन करें, समस्त प्रकारके गन्धोंमें कृष्णप्रसादी गन्धकी उपलब्धि हो। इसीप्रकार समस्त प्रकारके रसोंको कृष्णके आस्वादनीय रसके रूपमें दर्शन करें, समस्त द्रव्य जिन्हें हम स्पर्श करते हैं, वे कृष्ण सम्बन्धी द्रव्य ही जान पड़ें और हरिकथा या उनके भक्तोंकी कथाका ही श्रवण किया जाय । ऐसी भावना होने पर विषयोंके प्रति भगवद्-बहिर्मुख भावना नहीं होती। भोगोंमें जो सुख होता है, उसे स्वयं भोगनेकी प्रवृत्ति रहनेसे भक्तके हृदयमें भुक्ति प्रबल हो उठती है और भक्ति-पथसे उस साधकको च्युत कर देती है। दूसरी ओर संसारकी समस्त वस्तुओंको कृष्णकी सेवाके उपकरणके रूपमें ग्रहण करनेसे भुक्तिकी कामना सम्पूर्ण रूपसे दूर हो जाती है तथा शुद्धा-भक्ति प्रकाशित हो जाती है।

जैसे भुक्तिकी कामनाको दूर करना अत्यन्त आवश्यक है, वैसे ही मुक्तिकी कामनाको दूर करना सर्वतोभावेन कर्त्तव्य है। मुक्तिके सम्बन्धमें कुछ निगूढ़ विचार हैं। शास्त्रोंमें पाँच प्रकारकी मुक्तिका उल्लेख देखा जाता है—

सालोक्य-सार्ष्टि-सारूप्य-समीप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जनाः॥

श्रीकपिलदेवजी बोले—'हे माता! मेरे शुद्ध भक्तजन सालोक्य सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य और एकत्व—पाँच प्रकारकी मुक्ति दिये जाने पर भी ग्रहण नहीं करते। वे केवल मेरी सेवा ही ग्रहण करते हैं। सालोक्य मुक्तिमें भगवानका लोक प्राप्त होता है। भगवानके समान ऐश्वर्यकी प्राप्तिका नाम सार्ष्टि है। भगवानकी निकटताकी प्राप्तिका नाम सामीप्य है। भगवान विष्णु जैसे चतुर्भुज रूप प्राप्तिको सारूप्य मुक्ति कहते हैं। सायुज्य प्राप्तिका नाम एकत्व भी है। सायुज्य मुक्ति दो प्रकारकी होती है-ब्रह्म-सायुज्य और ईश्वर-सायुज्य। ब्रह्म-ज्ञानसे अन्तमें जीवोंको ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त होता है। आध्यात्मिक शास्त्रोंके अनुसार आचरण करने से ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त होता है। पातञ्जल-योगका ठीक-ठीक अनुष्ठान करनेसे कैवल्यरूप ईश्वर-सायुज्य की प्राप्ति होती है। भक्तोंके लिए ये दोनों प्रकारकी सायुज्य मुक्तियाँ अत्यन्त हेय हैं। जो लोग चरम अवस्थामें सायुज्य प्राप्त होनेकी आशा रखते हैं, वे भी भक्तिका आचरण तो करते हैं, परन्तु उनकी भक्ति अनित्य और धूर्ततापूर्ण होती है। वे लोग भक्तिको नित्य-धर्म नहीं मानते। वे तो भक्तिको केवल ब्रह्म-प्राप्तिका एक उपायमात्र मानते हैं। उनकी दृष्टिमें ब्रह्म-प्राप्तिके पश्चात् भक्ति ही नहीं रहती। इसलिए आध्यात्मिक साधक पुरुषोंके निकट भक्तिकी दुर्दशा होती है। जो लोग सायुज्य मुक्तिको चरम फल मानते हैं, उनके हृदयमें शुद्धा-भक्तिका कभी भी निवास नहीं होता। दूसरी मुक्तियोंके सम्बन्धमें श्रीरूप गोस्वामीका कथन है—

यत्र त्याज्यतयैवोक्ता मुक्तिः पंचविधापि चेत्।
सालोक्यादिस्तथाप्यत्र उक्ता नाति विरुद्ध्यते॥

सुखैश्वर्योत्तरा सेयं प्रेम–सेवोत्तरेत्यपि।
सालोक्यादि द्विधा तत्र नाद्या सेवानुषां मता॥
किन्तु प्रेमैक–माधुर्यभुज एकान्तिनो हरौ।
नैवाङ्गीकुर्वते नातु मुक्ति पंचविधामपि॥

पूर्वोक्त पाँच प्रकारकी मुक्तियाँ भक्तोंके लिए परित्यज्य होने पर भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सार्ष्टि—ये चार प्रकारकी मुक्तियाँ भक्तिके अत्यन्त विरुद्ध नहीं हैं। उक्त चार प्रकारकी मुक्तियाँ पात्रभेदसे दो आकार धारण करती हें—स्वसुख-ऐश्वर्य प्रदानकारी और प्रेम-सेवा प्रदानकारी। जो लोग अहंग्रहोपासना आदि उपायके द्वारा वैकुण्ठ-लाभ करते हैं, वे मुक्ति द्वारा सुख और ऐश्वर्य रूप फल प्राप्त करते हैं। सेवकगण अर्थात् भक्तजन ऐसी मुक्तिको किसी भी अवस्थामें अङ्गीकार नहीं करते। और अनन्य प्रेमी भक्तजन तो उक्त पाँचों प्रकारकी मुक्तियोंमें से किसी एकको भी ग्रहण नहीं करते। इसलिए शुद्धभक्तोंमें मुक्तिकी कामना नहीं होती। इस प्रकार मुक्तिकी कामना न होना ही अन्याभिलाषिता-शून्य होना है। यही भक्तिका एक तटस्थ लक्षण है।

ज्ञान और कर्म आदिसे अनावृत होना भक्तिका और भी एक दूसरा तटस्थ लक्षण है। 'ज्ञानकर्मादि' शब्दमें जो आदि पद है, उसके द्वारा अष्टांग-योग, वैराग्य, सांख्य-योग आदि औपाधिक धर्मोंका बोध होता है। पहले ही कहा गया है कि जीवके आनुकूल्यमय कृष्णानुशीलन को भक्ति कहते हैं। जीव चिन्मय है, कृष्ण भी चिन्मय हैं और भक्तिवृत्ति, जिससे जीव कृष्णके साथ नित्य सम्बन्ध स्थापन करते हैं, वह भी चिन्मयी

हैं। जीव शुद्ध अवस्थामें स्थित होनेपर भक्तिवृत्तिका स्वरूप लक्षण अकेला ही कार्य करता है। उस समय तटस्थ लक्षणके लिए अवकाश नहीं होता। जीवके बद्ध होकर जड़जगतमें स्थित होनेपर भक्तिके स्वरूप परिचयके साथ और भी दो तटस्थ परिचय उपस्थित हो पड़ते हैं। जड़ जगतमें जीवकी अन्य अभिलाषाएँ रहती हैं। इसलिए शुद्ध भक्तिका परिचय देते समय अन्य अभिलाषासे रहित होना' यह परिचय देना पड़ता है। चिज्जगतमें इस परिचयकी आवश्यकता नहीं होती। जीव संसार-समुद्रमें पतित होकर नाना प्रकारके बहिर्मुख कार्योंमें लिप्त हो जाता है। इससे उसको कृष्ण-विस्मृतिरूप एक रोग आक्रमण करता है। उस रोगकी ज्वालासे तड़फड़ाते हुए जीवोंमें संसार-समुद्रसे उद्धार पानेकी कामना पैदा होती है। वे उस समय मन-ही-मन अपनेको धिक्कारते हुए कहते हैं—हाय, मैं बड़ा ही भाग्यहीन हूँ। मैं इस दुस्तर संसार-सागरमें गिरकर अनन्त वासनारूप लहरोंके थपेड़ोंसे इधर-उधर भटक रहा हूँ। समय-समय पर काम-क्रोधरूप मगर आदि हिंसक जन्तुओं द्वारा आक्रान्त होकर 'मारा गया, मारा गया' कहता रहता हूँ, बचनेकी तनिक भी आशा दिखाई नहीं देती। क्या करूँ? क्या मेरा कोई बन्धु नहीं है? क्या मेरी रक्षाका कोई भी उपाय नहीं है? हाय! क्या करूँ? कैसे उद्धार पाऊँ? कुछ भी समझमें नहीं आता। हाय! हाय! मैं नितान्त हतभागा हूँ।' ऐसा कहते-कहते जीव थककर चुप हो जाता है।

ऐसी दशामें करुणा-वरुणालय कृष्णचन्द्र कृपापूर्वक उस जीवके हृदयमें भक्तिलताके बीज-स्वरूप श्रद्धा नामक एक असम्पूर्ण भावका बीज बोते हैं। वही बीज श्रवण-कीर्त्तन आदि

अनुशीलनरूप जल द्वारा पुष्ट होकर क्रमशः अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित होकर लताका रूप धारण करता है। अन्तमें जीवका सौभाग्य उदित होनेपर उस भक्ति–लतामें प्रेमरूप फल लगता है। अब श्रद्धारूपी–बीजके क्रम–विकासका वर्णन क्रमशः किया जा रहा है। अभी यहीं तक जान लेना उचित है कि जिस दिन हृदयमें श्रद्धा–बीज पड़ जाता है, उसी दिन वहाँ भक्तिदेवीका आविर्भाव होता है। श्रद्धारूपी भक्ति एक सुकुमारी बालिका है। जीवोंके हृदयमें उसके प्रवेशके समय से ही खूब सावधानीसे उनको निरोग अवस्थामें रखना उचित है। जिस प्रकार गृहस्थ अपनी अत्यन्त सुकुमारी बालिकाकी धूप, शीत, विषैले जीव–जन्तुओं तथा भूख–प्याससे रक्षा करता है, उसी प्रकार नवजात श्रद्धादेवीको समस्त प्रकारके अशुभोंसे अनावृत्त (मुक्त) रखना चाहिए, अन्यथा ज्ञान, कर्म, योग, जड़ा आसक्ति और शुष्क–वैराग्य आदिके अनिष्टकर संसर्गसे श्रद्धा क्रमशः उत्तमा भक्तिके रूपमें परिस्फुट न हो सकेगी, बल्कि अनर्थोंके मिश्रणसे क्रमशः वे अन्य रूप धारण कर लेती है। अर्थात् श्रद्धादेवी भक्तिरूपा न होकर अनर्थरूपा हो पड़ती है। जब तक यथार्थ साधुसंग–रूप धात्रीके द्वारा लालित–पालित होकर एवं भजनरूप औषधि और पथ्य द्वारा अनर्थशून्य होकर श्रद्धा–सुकुमारी निष्ठारूपमें उन्नत नहीं हो जाती, तभी तक उसको रोगका डर बना रहता है। निष्ठा हो जाने पर कोई भी अनर्थ उसका सहज ही अनिष्ट नहीं कर पाता। यदि श्रद्धादेवीको भली–भाँति यत्नपूर्वक पुष्ट न किया गया तो ज्ञान, वैराग्य, अध्यात्म–विचार, सांख्य आदि अभ्यासरूपी तरह–तरहके कीड़े–मकोड़े, दीमक, मच्छर और दूषित वायुके

द्वारा वे दूषित हो पड़ती हैं। बद्धावस्थामें जीवके ज्ञान; वैराग्य आदि तो अनिवार्य हैं; परन्तु ये ज्ञान आदि भाव यदि प्रतिकूल प्रकारके हों, तो ये भक्तिको नष्ट कर देते हैं। अतएव श्रीजीव गोस्वामीने यहाँ ज्ञान शब्दसे निर्भेद ब्रह्मानुसंधानको लक्ष्य किया है। ज्ञान दो प्रकारका होता है—(१)अध्यात्म-ज्ञान, जो मुक्तिको लक्ष्य करता है और (२) भगवत्तत्व-ज्ञान, जो भक्तिके साथ-साथ जीवके हृदयमें उदित होता है। प्रथम आध्यात्मिक-ज्ञान भक्तिका विरोधी है। ऐसे ज्ञानको दूर रखना अत्यन्त आवश्यक है। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि आध्यात्मिक-ज्ञानके बाद ही भक्ति उत्पन्न होती है। किन्तु यह बात सर्वथा भ्रमपूर्ण है। ऐसे-ज्ञानसे भक्ति शुष्क हो जाती है। परन्तु श्रद्धासे भक्ति-अनुशीलनके साथ-साथ जीवके हृदयमें ईश्वर जीव और मायाका परस्पर सम्बन्ध-निरूपक जो तत्त्व-ज्ञान उदित होता है, वह भक्तिका सहायक है। उसीका नाम अहैतुक ज्ञान है। इसलिये श्रीमद्भागवतमें श्रीसूत गोस्वामीने कहा है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम्॥

अब पूर्वोक्त समस्त बातोंपर ध्यानपूर्वक विचार करनेसे पता चलता है कि ज्ञान-कर्मादि द्वारा आच्छादित न होकर अर्थात् इन सब भावोंको अपने सेवकके रूपमें ग्रहणकर अन्याभिलाषसे शून्य होकर जो आनुकूल्यमय कृष्णानुशीलन होता है, वही उत्तमा भक्ति है। भक्ति ही जीवकी एकमात्र आनन्दमयी प्रवृत्ति है। उसके अतिरिक्त समस्त प्रकारकी प्रवृत्तियाँ बहिर्मुख हैं। भक्तिकी सहायतासे कभी-कभी कर्म आरोपसिद्धा भक्तिके रूपमें परिचित होता है। भक्तिकी सहायतासे

कभी-कभी ज्ञान भी संगसिद्धा-भक्तिके रूपमें परिचित होता है। परन्तु वे कभी भी स्वरूप-सिद्धा भक्ति नहीं हो सकते। स्वरूपसिद्धा भक्ति कैतव-शून्य अमिश्रानन्द-स्वरूप होती है अर्थात् इसमें स्वर्ग और मोक्षकी कामनाएँ नहीं होतीं। किन्तु आरोपसिद्धा-भक्तिमें भोग और मोक्षकी कामना छिपी रहती है। इसीलिये इसको सकैतवा-भक्ति भी कहते हैं। हे अन्तरंग वैष्णवगण! आप लोगोंको स्वभावतः स्वरूप-सिद्धा-भक्तिके प्रति ही रुचि होती है, आरोपसिद्धा या संगसिद्धा भक्तिके प्रति रुचि नहीं होती। क्योंकि ये दोनों प्रकारकी भक्तियाँ स्वरूपतः भक्ति नहीं हैं। उन दोनों भावोंका भक्ति नाम तो कुछ दूसरे लोगोंने ही रख दिया है। वास्तवमें उनको भक्ति नहीं—भक्त्याभास कहा जा सकता है। यदि सौभाग्यवश भक्ति-आभासके द्वारा भक्तिके स्वरूपके प्रति श्रद्धा हो जाय, तभी वह अन्तमें भक्तिके रूपमें परिणत होतीं हैं। परन्तु यह सहज बात नहीं है। क्योंकि उनके द्वारा शुद्ध भक्तिसे च्युत होनेकी ही अधिक संभावना होती है। इसलिए सर्वत्र ही स्वरूपसिद्धा-भक्ति करनेका उपदेश पाया जाता है।

इस छोटेसे लेखमें शुद्धा भक्तिका स्वरूप वर्णन किया गया है। पूर्वाचार्योंके पूर्व एवं परवर्त्ती समस्त उपदेशोंका भलीभाँति विवेचनकर उनके मनोभावोंको स्वल्पाक्षरोंमें लिपिबद्ध करनेकी इच्छासे निम्नलिखित एक श्लोकको प्रस्तुत किया जा रहा हे—

पूर्ण चिदात्मके कृष्णे जीवस्याणु चिदात्मनः।
उपाधिरहिता चेष्टा भक्तिः स्वभाविकी मता॥

श्रीकृष्ण सर्वदा पूर्ण शक्ति-सम्पन्न वृहच्चैतन्य तत्त्व हैं। जीव उनका किरण-स्थानीय अणु-चैतन्य तत्त्व-विशेष है।

२०

पूर्ण-चैतन्यके प्रति अणु-चैतन्यकी स्वाभाविकी उपाधिरहिता चेष्टाका नाम भक्ति है। अन्याभिलाष, ज्ञान और कर्मके-प्रति आग्रह ही उपाधि है। स्वाभाविकी चेष्टा कहनेसे आनुकूल्यमय अनुशीलनको ही समझना चाहिये।

द्वितीय अध्याय

भक्त्याभास–विवेक

यद्भक्तयाभास–लेशोऽपि ददाति फलमुत्तमम्।
तमानन्द–निधिं कृष्णचैतन्यं समुपास्महे ॥

हे अन्तरंग भक्तजन! पिछले अध्यायमें भक्तिके स्वरूप और तटस्थ लक्षणका विवेचन किया गया है। प्रस्तुत अध्यायमें भक्त्याभासके सम्बन्धमें विचार किया जायेगा। भक्तिके तटस्थ लक्षणके प्रसंगमें ही भक्त्याभासका कुछ–कुछ विवेचन हो चुका है। भक्त्याभास भक्तिके तटस्थ लक्षणके अन्तर्गत है, परन्तु जहाँ भक्तिके स्वरूप और तटस्थ दोनों लक्षण निरूपित होते हैं, वहाँ भक्त्याभासका विशेषरूपसे विवेचन नहीं होता। इसलिए भक्त्याभासके विषयमें एक स्वतन्त्र अध्याय लिखना पड़ रहा है। आशा है इस प्रबन्धसे पिछले अध्यायका विषय और भी स्पष्ट हो जायगा।

पहले कहा गया है कि अणु–चैतन्य जीवकी पूर्ण–चैतन्य कृष्णके प्रति उपाधिरहिता स्वाभाविकी चेष्टाका नाम भक्ति है। जीवकी अवस्था दो प्रकारकी होती है—मुक्तावस्था और बद्धावस्था। मुक्तावस्थामें जीव सब प्रकारके जड़ीय सम्बन्धोंसे मुक्त होकर स्व–स्वरूप अर्थात् शुद्ध चित्स्वरूपमें अवस्थित होता है। उस अवस्थामें कोई उपाधि नहीं होती। इसलिए उस अवस्थामें भक्तिके तटस्थ लक्षणकी कोई आवश्यकता नहीं होती। बद्धावस्थामें जीव अपना चित्स्वरूप भूल गया है। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरमें आत्मबुद्धि आरोपित कर लिया है।

इस अवस्थामें जीवकी उपाधि होती है। स्वच्छ काँच मल-शून्य रहनेपर ही उसमें समस्त वस्तुएँ स्पष्ट दिखलाई पड़ती हैं। किन्तु धूल आदिसे आवृत होनेपर उसी काँचमें वस्तुएँ साफ नहीं दिखलाई पड़तीं। ऐसी दशामें यह कहा जायेगा कि उस काँचकी एक उपाधि हुई है। जब कोई दूसरी वस्तु एक वस्तुके स्वभावको आच्छादित कर देती है, तब उस आच्छादनको उस आच्छादित वस्तुकी उपाधि कहते हैं। जड़ स्वभाव जीवके विशुद्ध चित् स्वभावको आच्छादित करता है। वह आच्छादन—जड़ स्वभाव ही जीवकी उपाधि है। इसलिए श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात् ईशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥

पूर्ण चैतन्यस्वरूप भगवान श्रीकृष्णके प्रति जीवका भक्तिवृत्तिजनित स्वाभाविक अभिनिवेश ही जीवका नित्य धर्म है। परन्तु वही जीव जब ईश-तत्त्वसे बहिर्मुख हो जाता है, तब भय उपस्थित हो जाता है तथा उसकी स्मृतिका विपर्यय हो जाता है। माया शक्ति नामक भगवानकी एक अपरा शक्ति है। उस शक्तिसे उत्पन्न इस जड़ जगतको भगवान्‌से स्वतन्त्र एक तत्त्व मान लेने पर दुर्भाग्यवश जीवका संसार हो गया है। पण्डितजन सद्गुरुका श्रीचरणाश्रयकर उस हरिरूप परमदेवताको अनन्य भक्ति द्वारा भजते हैं। उक्त श्लोक द्वारा यह स्थिर हुआ कि मायाभिनिवेश अर्थात् जड़ाशक्ति ही जीवकी उपाधि है। उपाधियुक्त अवस्थामें जीवकी भक्ति सहज ही विकृत होकर भक्त्याभासके रूपमें परिणत हो जाती है। जो लोग शुद्ध भक्तिकी अनन्य अभिलाषा रखते हैं; उन्हें भक्त्याभासको सम्पूर्ण

रूपसे पार करके केवला भक्तिका आश्रय लेना चाहिये। इसीलिए भक्त्याभासका हमने विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। भक्त्याभासका यह विस्तारित विवेचन अतिशय रहस्यपूर्ण है। केवल अन्तरङ्ग भक्तजनोंको ही इसे श्रवण करनेका अधिकार है। इसका कारण यह है कि जो लोग भक्त्याभास को ही भक्ति समझते हैं, उन्हें इस ग्रन्थको पढ़कर बिना भाग्योदय हुए कभी भी प्रसन्नता न होगी। मुझे इस ग्रन्थको अन्तरङ्ग भक्तोंके समक्ष रखनेमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है।

श्रीमद् रूप गोस्वामीने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थमें भक्त्याभासके सम्बन्धमें कोई पृथक् विवेचन नहीं किया है। 'अन्याभिलाषिता-शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' श्लोकके पूर्वार्द्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसमें गूढ़रूपमें भक्त्याभासका सर्वाङ्ग विवेचन है। उन्होंने रति-तत्त्वकी आलोचनामें रत्याभासके प्रसंगमें भक्त्याभासका सुन्दर विवेचन किया है। मैं उक्त रसाचार्यके उन्हीं विचारोंके आधारपर भक्त्याभास-विवेकके सम्बन्धमें लिख रहा हूँ। भक्त्याभास भक्तिकी पूर्व अवस्थामें होता है। भक्त्याभाससे क्रमशः शुद्धा भक्ति और शुद्धा भक्तिमें रति प्रकाशित होती है। श्रीरूप गोस्वामीने कहा है—

प्रतिबिम्बस्तथा छाया रत्याभासो द्विधा मतः॥

भक्त्याभास दो प्रकारका होता है—प्रतिबिम्ब-भक्त्याभास और छाया भक्त्याभास। प्रतिबिम्ब और छायाका भेद यह है कि प्रतिबिम्ब मूल वस्तुसे अत्यन्त पृथक् रहकर दूसरी वस्तुके रूपमें कल्पित होता है और छाया वस्तुको आश्रयकर उसके अति निकटसे उस वस्तुके स्वरूपको किंचित रूपमें प्रकाशित

करती है। एक वृक्ष जलमें प्रतिबिम्बित होनेपर जलमें जो वृक्ष दिखलाई पड़ता है, उसे प्रतिबिम्ब कहते हैं।

प्रतिबिम्ब उस वस्तुसे लगा हुआ नहीं होता। वस्तुकी सत्तासे ही प्रतिबिम्बकी सत्ता दिखाई देती है। फिर भी उसे दूसरी वस्तु मानते हैं। उस वृक्षसे लगी हुई उसकी आकृतिके अनुरूप प्रतिच्छविको छाया कहते हैं, जो प्रकाशके अवरोधके कारण होती है। छाया वस्तुके नितान्त आश्रित रूपमें अपना परिचय देती है। श्रीजीव गोस्वामी कहते हैं—*"तस्मान्निरुपाधित्वमेव रतेर्मुख्यस्वरूपत्वं सोपाधित्वमाभाषत्वं तत्त्व गौण्या वृत्त्या प्रवर्त्तमानत्वमिति।"* अर्थात् उपाधि-रहित भक्ति ही स्वरूपसिद्धाभक्ति है तथा उपाधियुक्त रहने पर उसे भक्त्याभास कहते है। यह भक्त्याभास गौणी वृत्ति द्वारा उत्पन्न होता है। साक्षात् वृत्तिको मुख्य वृत्ति और व्यवधान युक्त वृत्तिको गौणी वृत्ति कहते हैं। प्रतिबिम्ब और छाया दोनों ही गौणी वृत्तिके अन्तर्गत हैं। जब भक्ति शुद्धावस्थामें होती है, तब उसमें प्रतिबिम्ब या छाया कुछ भी नहीं होती। उस समय केवल वस्तु ही स्वयं प्रकाशित होती है।

प्रतिबिम्ब–भक्त्याभास

पहले प्रतिबिम्ब-भक्ति-आभासका विवेचन किया जा रहा है। प्रतिबिम्ब भक्त्याभास तीन प्रकार का होता है—

(१) निर्विशेष-ज्ञानावृत भक्त्याभास।

(२) बहिर्मुख-कर्मावृत भक्त्याभास।

(३) विपरीत वस्तुमें भक्ति-बुद्धि जनित भक्त्याभास।

(१) निर्विशेष-ज्ञानावृत भक्त्याभासमें भक्ति निर्विशेष ज्ञानरूप

आवरणके द्वारा आच्छादित रहती है। उस समय भक्तिके आस्वादक और स्वरूप-सिद्धा-भक्तिके बीच निर्विशेष ज्ञानका एक परदा होता है। अतः साक्षात् रूपमें स्वरूप-भक्तिका दर्शन सम्भव नहीं होता।

निर्विशेष ज्ञानकी यह मान्यता है कि "चिद् तत्त्वमें नाम, रूप, गुण और क्रिया आदि कुछ भी विशेष नहीं होता। ये विशेषताएँ केवल जड़ वस्तुमें ही होती हैं; जीव जड़-मुक्त होनेपर निर्विशेष ब्रह्ममें लीन हो जाता है।" जहाँ ऐसा निर्विशेष ज्ञान होता है, वहाँ शुद्धा भक्तिका अभाव होता है। कृष्णानुशीलनको शुद्धा भक्ति कहा गया है। किन्तु उपरोक्त निर्विशेष अवस्थामें भक्तिकी क्रिया असंभव है, क्योंकि निर्विशेष अवस्थामें संवेद्य कृष्ण, संवेदक कृष्णदास जीव और संवेदन भक्तिरूप चेष्टा नहीं होती। यदि यह कहा जाय कि चरम अवस्था (मुक्त अवस्था) में त्रिपुटिके विनाश हो जानेके कारण भक्ति नहीं रहती। परन्तु इस समय कृष्णानुशीलन रूप भक्तिका आचरण करता हूँ, तो ऐसा माननेसे तुम्हारी ऐसी कृष्ण भक्तिको निष्कपट एवं नित्य कैसे कहा जायेगा? तुम तो मन-ही-मन कृष्णको सन्तुष्टकर अंतमें उनकी सत्ता भी लुप्त कर दोगे, जैसे भस्मासुरने शिवजी को आराधना द्वारा सन्तुष्टकर उनसे वर लिया और उन्हींके सरपर हाथ रखकर उनकी सत्ताको लुप्त कर देना चाहा, ठीक इसी प्रकार तुम्हारी भक्ति भी कपटतापूर्ण एवं अनित्य है। इसलिए तुम यह नहीं जानते कि नित्यसिद्धा स्वरूप-भक्तिका स्वरूप क्या है। श्रीरूप गोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धुमें तुम्हारी इस कपट भक्तिका लक्षण निरूपण करते हुए कहा है—

आश्रमाभीष्ट–निर्वाही रतिलक्षण लक्षितः।
भोगापवर्ग–सौख्यांश–व्यञ्जकः प्रतिबिम्बकः॥
किन्तु बाल–चमत्कार–कारी तच्चिह्न वीक्षया।
अभिज्ञेन सुबोधोऽयं रत्याभासः प्रकीर्तितः॥

अब तुम्हारे पुलकाश्रु आदि दो–एक लक्षणोंको देखकर ऐसा लगता है कि तुम्हें कृष्णरति हो गई है। किन्तु तुम्हारी जो रति हुई है, उसके केवल बाह्य लक्षणोंको देखकर निर्बोध लोग ही प्रशंसा करते हैं। परन्तु विज्ञ व्यक्ति उसे रत्याभास कहते हैं। तुम्हें जो पुलकाश्रु होता है, वह दो कारणोंसे होता है। पहला कारण यह है कि तुम्हें निर्विशेष गति रूप मुक्ति अच्छी लगती है। उस मुक्तिके एकमात्र दाता–स्वरूप श्रीकृष्णको स्मरण कर तुम्हें अत्यन्त आनन्द होता है। उसी आनन्दातिरेकके द्वारा तुम्हें पुलकाश्रु हो रहा है, स्वाभाविक कृष्ण–प्रीतिके कारण नहीं। जैसा भी हो, ऐसे भक्त्याभाससे अनायास ही तुम्हारी मनोकामनापूर्ण हो जायेगी—ऐसा सोचकर ही तुम्हें बड़ा आनन्द हो रहा है। यही तुम्हारे पुलकाश्रुका दूसरा कारण है—

वाराणसी–निवासी कश्चिदयं व्याहरन् हरेश्चरितम्।
यति–गोष्ठ्यामुत्पुलकः सिञ्चति गण्डद्वयीमस्त्रैः॥

देखो, वाराणसीका एक निर्विशेषवादी सन्यासी सन्यासियोंकी सभामें हरिका गुणगान करते–करते बार–बार पुलकित हो रहा है और उसकी आँखोंसे निरन्तर आसुओंकी धारा प्रवाहित हो रही है। श्रीहरिका गुणगान करते समय संन्यासी यह सोच रहा है कि अहा! सरल उपायसे मैं निर्विशेष गतिको प्राप्त हो रहा हूँ।

ऐसी अवस्थाका कारण श्रीरूप गोस्वामी बतला रहे हैं—

दैवात् सद्भक्त-सङ्गेन कीर्त्तनाद्यनुसारिणाम्।
प्रायः प्रसन्न-मनसां भोगो मोक्षादि-रागिणाम्॥
केशाञ्चिद्धृदि भावेन्दोः प्रतिबिम्ब उदञ्चति।
तद्भक्त हृन्नभः-रथस्य तत् संसर्ग-प्रभावतः॥

इस प्रकारका पुलकाश्रु होना भी निर्विशेषवादीके लिये सहज नहीं है, क्योंकि ज्ञान और वैराग्य चित्तको कठोर बना देते हैं और सुकुमार स्वभाववाली भक्तिके समस्त लक्षणोंको दूर कर देते हैं। परन्तु निर्विशेषवादियोंके श्रवण और कीर्तन आदि क्रियाओंमें भोग और मोक्ष आदि कामनारूप व्याधि विद्यमान रहने पर भी श्रवण-कीर्तन आदिसे उनका चित्त कुछ-कुछ प्रसन्न होता है। इस समय सौभाग्यवश यदि शुद्ध भगवद्भक्तका सङ्ग मिल जाय, तो उस सङ्गसे उनके हृदयाकाशमें उदित 'भाव' रूप चन्द्रके प्रतिबिम्ब-स्वरूप निर्विशेष भाव-दूषित हृदयमें भी एक ऐसी अवस्था होती है, जिससे कभी-कभी थोड़ा बहुत पुलाश्रु हुआ करता है। पुनः जब सत्सङ्गका अभाव होता है, तब फिर वे शिष्योंके पुलकाश्रुको ढोंग समझकर निन्दा करते हैं। अतएव निर्विशेष ज्ञानावृत-चित्तमें भक्तिका कदापि उदय नहीं होता। परन्तु कभी-कभी भक्त्याभासका उदय होता है।

(२) बहिर्मुख-कर्मावृत भक्त्याभासमें बहिर्मुख कर्मावरण ही भक्तिकी गौणी वृत्ति द्वारा व्यवधानके रूपमें स्थापित होता है। आस्वादक और आस्वादन—दन दोनोंके बीचमें बहिर्मुख कर्म-रूप एक आवरण पड़ जाता है। यह आवरण भक्तिके मुख्य स्वरूपको ढक देता है। वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म और अष्टाङ्ग

योग—ये सभी कर्म हैं। कर्म दो प्रकारका होता है—नित्य और नैमित्तिक। समस्त पुण्य-जनक कर्म ही कर्म हैं। कर्मकी विशद विवेचना करनेसे ग्रन्थका कलेवर अत्यन्त बढ़ जाएगा। अतएव जो लोग कर्म तत्त्वको विशेष रूपमें समझना चाहते हैं, वे श्रीचैतन्य शिक्षामृतके प्रारम्भमें मेरे लिखे हुए कुछ पृष्ठोंको पढेंगे। स्मार्त्त पण्डितों द्वारा रचित पुस्तकोंमें जिन कर्मोंकी व्यवस्था दी गई है, वे समस्त कर्म बहिर्मुख हैं। स्मार्त्तग्रन्थोंमें वर्णाश्रमोचित सन्ध्या-वन्दना आदि कर्मोंको नित्य कर्म कहा गया है। इन्हीं नित्य-कर्मोंको कुछ-कुछ स्मार्तजन भक्ति समझते हैं। किन्तु सूक्ष्म विवेचन करने पर ये कर्म-समूह भी बहिर्मुख कर्म प्रतीत होंगे। उनमें जो भक्तिके लक्षण दिखलाई पड़ते हैं, वे केवल प्रतिबिम्ब-स्वरूप भक्त्याभास-मात्र हैं—यथार्थ भक्ति नहीं। इसका कारण यह है कि इन कर्मोंका फल या तो अपवर्ग अर्थात् निर्विशेष मुक्ति है अथवा भोग अर्थात् लौकिक या पारलौकिक सुख-प्राप्ति है। कुछ लोग भक्ति तत्त्वके श्रवण-कीर्तन आदि अंगोंको 'कर्म' और कर्माङ्गके श्रवण-कीर्तन आदि व्यवस्थाओंको 'भक्ति' समझते हैं। तत्त्व-सम्बन्धी अज्ञानता ही ऐसे अतात्त्विक सिद्धान्तोंकी जननी है। कर्म और साधन-भक्तिमें बाह्यतः बहुत कुछ समानता होने पर भी दोनोंमें एक बहुत बड़ा मौलिक भेद है। मनुष्यके लौकिक या पारलौकिक किसी भी स्थूल सुख-लाभके उद्देश्यसे जो कुछ भी किया जाए, उसे कर्म कहते हैं। वह सुख दो रूपोंमें परिलक्षित होता है—या तो भोगके रूपमें और नहीं तो निर्विशेष मोक्षके रूपमें।

भक्ति किसे कहते हैं? जो कुछ किया जाय, वह इस भावना से ओतप्रोत होकर किया जाय कि उससे केवल स्वाभाविकी कृष्णरतिकी ही समृद्धि होगी, इसके अतिरिक्त उससे कुछ भी लाभ करने की आकाँक्षा नहीं होती। कुछ अवान्तर फल पाये जानेपर भी वे फल नितान्त तुच्छ प्रतीत होते हैं। जिन-जिन कार्योंसे शुद्ध भक्तिका पोषण होता है, वे कार्य भक्ति ही हैं। क्योंकि भक्ति ही भक्ति की जननी है, ज्ञान या कर्म भक्तिको उत्पन्न करनेमें कदापि समर्थ नहीं हैं। हे अन्तरङ्ग भक्तजन! कर्म-जड़ व्यक्तियोंको यह सूक्ष्म प्रभेद दिखलाकर आप लोग कभी भी सन्तुष्ट नहीं हो सकते। राशि-राशि पुण्य-सञ्चय तथा सत्सङ्गके प्रभावसे जब उनकी कर्म और ज्ञानके प्रति श्रद्धा दूर हो जाती है, तभी भक्तिके प्रागभावरूप भक्ति-बीजरूपा श्रद्धा उदित होती है। इस श्रद्धाके न होने तक कोई भी कर्म और भक्तिका प्रभेद नहीं समझ सकता है। जिनकी ऐसी धारणा है कि भक्ति भी कर्मरूपा है, वे शुद्ध भक्तिका चिन्मय भाव कभी भी हृदयमें आस्वादन नहीं कर सके हैं—ऐसा समझना चाहिए। तिक्त और मधुरका प्रभेद केवल आस्वादन द्वारा ही समझा जा सकता है—विचार द्वारा नहीं। परन्तु आस्वादनके पश्चात् विचार करनेपर वह प्रभेद अत्यन्त आसानी और उत्तमतासे समझा जा सकता है। कर्ममें आग्रह रखने वाले हरिनाम आदि करते-करते जो नृत्य करते हैं, आँसू बहाते हैं या पुलकित होते हैं, वह सब कुछ पूर्वोक्त सौभाग्यवश "सत्-भक्त-सङ्गेन" इत्यादि श्लोकमें वर्णित प्रतिबिम्ब भक्ति है, शुद्ध भक्ति नहीं। उनका पुलकाश्रु केवल "भोग-सौख्यांश-व्यञ्जक" प्रतिबिम्ब मात्र है। उस समय वे या

तो स्वर्ग-सुखकी चिन्तामें विभोर रहते हैं अथवा मोक्ष-सुखके कल्पित आनन्द-सागरमें निमग्न होते हैं। यही प्रतिबिम्ब भक्त्याभास है।

(३) वर्तमान कालमें प्रचलित पंचोपासना और योगमार्गके ईश्वर-प्रणिधानमें हम विपरीत तत्त्वोंमें भक्ति-बुद्धि जनित भक्त्याभासको सहज ही लक्ष्य कर सकते हैं। आजकल जिसे पंचोपासना कहते हैं, उसमें पाँच सम्प्रदायोंकी कल्पना की गई है—शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर और वैष्णव। ये पाँचों निर्विशेष ज्ञानके अनुगत हैं। इस पंचोपासनामें जिस वैष्णव सम्प्रदायका उल्लेख है, वह भक्ति-तत्त्व-सम्मत वैष्णव-सम्प्रदाय नहीं है। भक्ति-तत्त्व-समस्त जो चार वैष्णव सम्प्रदाय हैं, वे पंचोपासक सम्प्रदायके अन्तर्गत नहीं हैं। श्रीरामानुज, श्रीमध्वाचार्य, श्रीविष्णुस्वामी, और श्रीनिम्बादित्य—ये चारों चार शुद्धभक्ति सम्प्रदायके आचार्य हैं—

'श्रीब्रह्म-रुद्र-सनकाश्चत्वारः सम्प्रदायिनः।'

इन्हीं चारों सम्प्रदायोंको लक्ष्य करके ही शास्त्रमें यह कहा गया है—

'सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मताः॥'

अर्थात् सम्प्रदाय विहीन मन्त्र विफल होते हैं।

पंचोपासक वैष्णव वस्तुतः निर्विशेषवादी हैं, शुद्ध भक्त नहीं। सारे पंचोपासक यह स्वीकार करते हैं कि उनके पाँचों उपास्य देवताओंकी मूर्तियाँ कल्पित हैं। उनके मतानुसार उपासना सिद्ध होनेपर अन्तमें निर्विशेष ब्रह्म ही प्राप्त होता है। उन कल्पित मूर्तियोंको ईश्वर मानकर उनके प्रति जो भक्ति की जाती है, वह भक्ति नित्य नहीं है। वस्तुतः वह ज्ञानावृत

भक्त्याभास मात्र है। ज्ञानावृत भक्त्याभासको भक्ति माननेसे कभी भी शुद्धा-भक्ति नहीं हो सकती। यदि उक्त भक्त्याभास अनुष्ठानकारीमें भक्ति लक्षणात्मक अश्रु या पुलक दिखलाई पड़े, तो उसे केवल 'भोगापवर्ग- सौख्यांश-व्यञ्जक-प्रतिबिम्ब' ही समझना चाहिये। पंचोपासकोंको जिस प्रकारसे कल्पित देव मूर्तियोंके प्रति भक्त्याभास मात्र होता है, योगियोंको भी उसी प्रकार विराड् या हिरण्यगर्भरूप कल्पित मूर्तिके अवलम्बन से पुलकाश्रु होता है। सभी प्रतिबिम्ब-भक्त्याभास हैं। प्रतिबिम्ब-भक्त्याभास उन्नत होकर एक न एक दिन शुद्धभक्तिका रूप धारण कर लेगा—ऐसी धारणा सर्वथा भ्रान्त है। क्योंकि उसमें जो कर्म-जड़ता और निर्विशेष चिन्ता है, उसे परित्याग करनेसे उस तत्त्वकी सत्ता लुप्त हो जाती है। ऐसी अवस्थामें नये सिरेसे अपनी चित्तवृत्तिका पूर्णरूपेण संस्कार नहीं करनेसे उनका कल्याण होना असंभव है। सनक, सनातन आदि निर्विशेषवादी एवं परम ज्ञानी श्रीशुकदेवने जिस समय अपने-अपने पूर्वधर्मोंका सम्पूर्ण रूपसे त्याग कर भक्तिमार्गमें प्रवेश किया, तभी उनका नया जीवन प्रारम्भ हुआ। उसी नव-जीवनके बलसे उन्होंने हमारे आचार्यकी पद्वी प्राप्त की है। प्रतिबिम्ब भक्त्याभासके सम्बन्धमें श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

विमुक्ताखिलतर्षैर्या मुक्तैरपि विमृग्यते।
या कृष्णेनातिगोप्याशु भजद्भ्योऽपि न दीयते॥
सा भुक्ति-मुक्ति कामत्वाच्छुद्धां भक्तिमकुर्वताम्।
हृदये संभवत्येषां कथं भागवती रतिः॥

समस्त प्रकारकी तृष्णाओंसे मुक्त जीव जिसे अन्वेषण करते हैं और भगवान श्रीकृष्ण भजनशील व्यक्तियोंको भी जिसे

सहज ही प्रदान नहीं करते, वह भागवती-रति भुक्ति और मुक्तिकामियोंके हृदय में कैसे उत्पन्न हो सकती है? यहाँ पर यह कह देना भी आवश्यक है कि अवैध स्त्री-सङ्ग और मादक द्रव्योंके सेवनसे जो औपाधिक सुख प्राप्त होता है, उसे जो लोग भागवती रति मानते हैं, वे स्वयं भ्रष्ट और जगतको भी भ्रष्ट करते हैं।

छाया-भक्त्याभास

अब 'छाया'-भक्त्याभासका विवेचन होना आवश्यक है। प्रतिबिम्ब-भक्त्याभासकी तरह छाया-भक्त्याभास कुटिल और धूर्त्ततापूर्ण नहीं होता। इसमें सरलता और सदाग्रह होता है। छाया-भक्त्याभास के सम्बन्धमें श्रीरूप गोस्वामीने इस प्रकार लिखा है—

क्षुद्र कौतूहलमयी चञ्चल दुःखहारिणी।
रतेश्छाया भवेत् किञ्चत् तत्सादृश्यावलम्बिनी॥
हरिप्रिय-क्रिया-काल-देश-पात्रादि-सङ्गमात्।
अप्यानुषङ्गिकादेषा क्वचिदज्ञेष्वपीक्ष्यते॥
किन्तु भाग्यं विना नासौ भावच्छायाप्युदञ्चति।
यदभ्युदयतः क्षेमं तत्र स्यादुत्तरोत्तरम्॥
हरि-प्रियजनस्यैव प्रसादभर-लाभतः।
भावाभासोऽपि सहसा भावत्वमुपगच्छति॥
तस्मिन्नेवापराधेन भावाभासोऽप्यनुत्तमः।
क्रमेणे क्षयमाप्नोति खस्थः पूर्णशशी यथा॥

छाया भक्त्याभास और शुद्धा भक्तिमें कुछ-कुछ सौसादृश्य

है। किन्तु छाया-भक्त्याभास स्वभावतः क्षुद्र कौतूहलमय, चञ्चल और दुःखहारी होता है। भगवानके प्रिय-काल, प्रियदेश और प्रिय-पात्र आदिके संग-प्रभावसे कहीं-कहीं केवल मात्र भगवत् सम्बन्धका अवलम्बन करने पर स्वरूप-तत्त्व ज्ञानसे रहित व्यक्तियोंमें भी वह लक्षित होता है। साम्प्रदायिक हो अथवा पञ्चोपासक हो, अत्यन्त भाग्योदय हुए बिना किसीको भी छाया-भक्त्याभास प्राप्त नहीं होता। क्योंकि जितने भी क्षुद्र परिमाणमें क्यों न हो, भाव-छाया एक बार उदित होनेपर उत्तरोत्तर वृद्धिको ही प्राप्त होता है और साधकका उत्तरोत्तर कल्याण होता जाता है। शुद्ध वैष्णवोंकी कृपा प्राप्त होनेपर भावाभास भी सहसा भावके रूपमें उन्नत हो पड़ता है। दूसरी और शुद्ध वैष्णवोंके प्रति अपराध होने पर जैसे चन्द्र कृष्णपक्षमें क्रमशः क्षीण होता जाता है, उसी प्रकार उत्तम भावाभास भी क्रमशः क्षय हो जाता है। 'छाया भक्त्याभास' दो प्रकारका होता है—

(१) स्वरूप-ज्ञानाभाव जनित भक्त्याभास।

(२) भक्त्युद्दीपक वस्तु-शक्ति-जनित भक्त्याभास।

(१) साधक, साधन और साध्य—इनका स्वरूप-ज्ञान शुद्ध भक्तिके स्वरूपसे अभिन्न है। इस स्वरूप ज्ञानका उदय नहीं हुआ है, किन्तु संसार समुद्रको पार होनेकी वासना मात्र उत्पन्न हुई है, ऐसी दशामें जो भक्तिका लक्षण देखा जाता है, वह स्वरूप-ज्ञानके अभावमें भक्त्याभास है। स्वरूप-ज्ञान होनेके साथ-साथ वह भक्त्याभास शुद्धा-भक्ति हो पड़ता है। साम्प्रदायिक वैष्णवजन भी जब तक शिक्षा गुरुकी कृपासे स्वरूप-ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक दीक्षागुरु द्वारा दी हुई वस्तु-प्रभा

उदित नहीं होती। अतः स्वरूप-ज्ञानके अभावमें स्वरूप-सिद्धा भक्तिके आच्छादित रहनेके कारण भक्त्याभास ही लक्षित होता है। जो सब पंचोपासक निर्विशेषवादकी शिक्षा नहीं पाये हैं और अपनी इष्टमूर्तिको परमार्थ मानकर अर्थात् भगवद् वैभव मानकर उपासना करते हैं, उनकी भक्ति भी छाया-भक्त्याभास है। तथापि साम्प्रदायिक वैष्णव और पंचोपासक वैष्णवोंमें बहुत कुछ भेद है। साम्प्रदायिक वैष्णवोंकी सविशेष वस्तु निष्ठा पंचोपासकोंसे कहीं अधिक बढ़कर होती है। तत्त्वकी शिक्षा प्राप्तकर एक साम्प्रदायिक वैष्णवकी जितनी शुद्ध वैष्णवता प्राप्त होनेकी आशा होती है, पंचोपासकोंको अपनी प्रथानुसार तत्त्व-शिक्षा प्राप्तकर शुद्ध वैष्णवता प्राप्त करनेकी उतनी आशा नहीं रहती। विशेषतः पंचोपासकोंके लिये साधुसंग प्राप्त करना जितना कठिन है, साम्प्रदायिक वैष्णवोंके लिये उतना नहीं है। किन्तु यदि सौभाग्यवश पंचोपासकोंको सत्संग मिल जाय और निर्विशेषवादियोंका संग न हो, तब वह साम्प्रदायिक मतसे पुनः संस्कृत होकर शुद्ध भक्तिका अन्वेषण कर सकता है। भक्ति-संदर्भमें उद्धृत किये गये दो शास्त्रीय प्रमाणोंको यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। स्कन्दपुराणमें साम्प्रदायिक वैष्णवके छाया-भक्त्याभाससे भी इच्छित फल-प्राप्तिकी बात कही गयी है। श्रीमहादेवजी कहते हैं—

दीक्षामात्रेण कृष्णस्य नरा मोक्षं लभन्ते वै।
किं पुनर्ये सदा भक्त्या पूजयन्त्यच्युतं नराः॥

अर्थात् केवल कृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा ग्रहण करनेसे ही जब मुक्ति प्राप्त हो जाती है, तब भगवानकी भक्ति करनेसे क्या प्राप्त होगा, कहा नहीं जा सकता। वे पंचोपासक जिनमें

'प्रतिबिम्ब' भक्त्याभास नहीं हुआ है, किन्तु 'छाया'-भक्त्याभास का उदय हो गया है, उनके सम्बन्धमें आदि-वराहपुराणमें इस प्रकार कहा गया है—

जन्मान्तरसहस्त्रेषु समाराध्य वृषध्वजम्।
वैष्णवत्वं लभेद्धीमान् सर्वपापक्षये सति॥

शास्त्र सिद्धान्त यह है कि शाक्त लोग क्रमशः सौरत्व, सौरजन क्रमशः गाणपत्य, गणपतिके उपासक क्रमशः शैवत्व और शैवगण क्रमशः पंचोपासनाके अन्तर्गत वैष्णवत्व तथा पंचोपासक वैष्णवगण क्रमशः साम्प्रदायिक वैष्णवत्व एवं सभी क्रमशः सात्वत्तत्व या निर्गुणाभक्ति लाभ करते हैं। शास्त्रवाणियोंके अनुशीलनसे यह प्रतीत होता है कि छाया-भक्त्याभास सत्संगके प्रभावसे क्रमशः शुद्धा-भक्तिके रूपमें प्रस्फुटित होता है।

(२) भक्त्युद्दीपक वस्तु-शक्ति जनित भक्त्याभासके उदाहरण शास्त्रोंमें सर्वत्र भरे पड़े हैं। तुलसी, महाप्रसाद, वैष्णव-प्रसाद, एकादशी, श्रीमूर्ति, क्षेत्र, गङ्गा, जयन्ती-तिथि, वैष्णव-पद-धूलि आदि अनेक भक्त्युद्दीपक वस्तुएँ हैं। अज्ञानतावश भी इन वस्तुओंके संयोगसे जीवोंका कहीं-कहीं प्रचुर कल्याण होता है। कहीं-कहीं तो अपराधके रूपमें संयोग होने पर भी वैसा ही फल प्राप्त होता है। ऐसा संयोग भी भक्त्याभास है। भक्त्याभासका ऐसा अद्‌भुत फल देखकर भक्तजन कभी आश्चर्य न करेंगे। ये समस्त फल शुद्धा भक्तिके असीम प्रभावसे ही उत्पन्न होते हैं। ज्ञान या योगका अनुष्ठान यदि शुद्धरूपमें न किया जाय और यदि उन्हें भक्त्याभासकी सहायता न प्राप्त हो; तो ज्ञान या योग कोई भी फल देनेमें समर्थ नहीं है। परन्तु भक्तिदेवी सर्वत्र स्वतन्त्र हैं। चाहे जो हो

और जिस किसी अभिलाषासे क्यों न हो, भक्तिदेवीके आश्रित होनेसे वे उसकी सभी मनोकामनाएँ पूर्ण कर देती हैं। यद्यपि ये समस्त फल भक्त्याभासमें दृष्टिगोचर होते हैं तथापि भक्त्याभासके आचरणको कर्त्तव्य नहीं बतलाया गया है। शुद्धाभक्तिका आचरण करना ही कर्त्तव्य है। जो लोग सम्पूर्ण मङ्गल प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें किसी भी दशामें 'प्रतिबिम्ब'-भक्त्याभासको हृदयमें स्थान नहीं देना चाहिए तथा शुद्ध वैष्णवोंके आश्रयमें रहकर भजनके बलसे 'छाया' भक्त्याभासको अतिक्रम कर शुद्ध-भक्तिदेवीके चरणकमलोंमें आश्रय लेना चाहिए। अतः आप लोग अनुग्रह-पूर्वक विश्ववैष्णवदासके केवल इस सिद्धान्त को ग्रहण करें—

प्रतिबिम्बस्तथा छाया भेदात्तत्व-विचारतः।
भक्त्याभासो द्विधा सोऽपि वर्जनीयः रसार्थिभिः॥

जो भक्ति-रसका आस्वादन करना चाहते हैं, उन्हें दोनों प्रकारके भक्त्याभासोंसे सर्वदा दूर रहना चाहिए। तत्त्व-विवेचनसे यह स्थिर हुआ कि भक्त्याभास दो प्रकारके है, अर्थात् प्रतिबिम्ब-भक्त्याभास और छाया-भक्त्याभास। प्रतिबिम्ब भक्त्याभास जीवके लिए अपराधजनक होता है। छाया-भक्त्याभास जीवके लिए असम्पूर्ण है। शुद्धा-भक्ति ही जीवके लिये आदरणीय है। श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

भक्तिके प्रति अपराध

यह एक भयंकर बात है। हम लोग अनेक प्रकारसे भक्तिका अनुष्ठान करते हैं। साम्प्रदायिक ब्राह्मण-गुरुके निकट

मन्त्र ग्रहण करते हैं। प्रतिदिन द्वादश अंगोंमें द्वादश तिलक धारण कर श्रीकृष्णका अर्चन करते हैं। एकादशी तिथिका पालन तथा शक्तिके अनुसार नाम-स्मरण भी करते हैं। श्रीवृन्दावन आदि स्थानोंका दर्शन करते हैं। परन्तु दुर्भाग्यकी बात यह है कि हम इस बातके लिए प्रयत्न नहीं करते कि भक्तिदेवीके प्रति हमारा अपराध न हो। श्रीमन् महाप्रभुने 'मुकुन्द' को लक्ष्यकर भक्तजनोंसे श्रीभक्ति-देवीके प्रति अपराधका लक्षण कहा हे—

क्षणे दन्ते तृण लय, क्षणे जाठी मारे।
ओ खड़जाठिया'-बेटा ना देखिवे मोरे॥
प्रभु बोले,-''ओ बेटा जखन यथा जाय।
सेई मत कथा कहि तथाय मिशाय॥
वाशिष्ठ पड़ये जबे अद्वैतेर संगे।
भक्तियोगे नाचे गाय तृण करि दन्ते॥
अन्य सम्प्रदाये गिया जखन सांभाय।
नाहि माने भक्ति जाठि मारये सदाय॥
भक्तिस्थाने उहार हइल अपराध।
एतेके उहार हैल दरसन-बाध॥

(श्रीचैतन्य भागवत)

अर्थात् महाप्रभु कहते हैं—'मैं मुकुन्दपर कभी कृपा नहीं कर सकता। क्योंकि वह कभी दाँतों तले तिनका दबाकर अपनी दीनता प्रकाश करता है और कभी मुझपर आक्रमण करता है। अर्थात् उसका एक हाथ मेरे पैरों पर और दूसरा हाथ मेरे गले पर रहता है। अपनी सुविधा देखकर कभी तो

मेरे अनुगत होता है और कभी मेरी निन्दा करता है अतः उसको वर नहीं दिया जा सकता। वह जब जहाँपर जाता है, वहाँ अपनी सुविधाके अनुसार वैसा ही अपना परिचय देकर उनमें घुल-मिल जाता है। कभी वह अद्वैतके साथ योगवाशिष्ठ नामक ग्रन्थका पाठकर मायावादका समर्थन करता है और कभी मायावाद छोड़कर कृष्ण भक्तिका अनुशीलन करनेके लिये दैन्य दिखलाता है तथा दीन-हीन बनकर नृत्य करता है, कीर्त्तन करता है। जब वह मायावादियोंके सम्प्रदायमें जाता है, तब भक्तिकी नित्यता अस्वीकारकर भक्तजनोंपर तर्करूप अस्त्रोंका प्रहार करता है। इस प्रकार उसका भक्ति देवीके चरणोंमें अपराध हुआ है। अतः मैं उसे दर्शन नहीं दे सकता।

मुकुन्ददत्त एक भगवत् पार्षद हैं। अतएव उनके सम्बन्धमें जो कुछ महाप्रभुने कहा है, वह केवल लीला मात्र है। परन्तु महाप्रभुके हृदयका भाव अतिशय गम्भीर है। अतः उनके कथनका कोई न कोई अतिशय गूढ़ रहस्य है। उनका गूढ़ उपदेश यह है कि केवल दीक्षा आदि ग्रहण कर भक्त्यांगोंका अनुष्ठान करनेसे ही कृष्ण प्रसन्न नहीं होते। जिनको अनन्य भक्तिके प्रति अनन्य श्रद्धा है, वे ही प्रभुको सन्तुष्ट कर सकते हैं। जिनकी वैसी श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है, वे शुद्धाभक्तिका पक्ष दृढ़तासे ग्रहण करते हैं। जहाँ शुद्धाभक्तिका कोई प्रसङ्ग नहीं होता, वहाँ वे नहीं जाते, वहाँ वे उठते-बैठते भी नहीं। जहाँ शुद्धाभक्तिका प्रसङ्ग चलता है, वहींपर वे रुचिपूर्वक बैठते हैं तथा उसका श्रवण करते हैं। सरलता, दृढ़ता, और ऐकान्तिकता ही शुद्ध-भक्तोंका स्वभाव होता है। वे लोकरंजनके लिए कभी भी भक्तिविरुद्ध बातों या कार्योंका

अनुमोदन नहीं करते। शुद्ध-भक्तजन सर्वदा निरपेक्ष रहते हैं।

आजकल अधिकांश लोग उपरोक्त अपराधोंसे बिल्कुल नहीं डरते हैं। भक्तोंको देखते ही अथवा भगवत्-कथाका श्रवण करते ही उनमें अश्रु और पुलकादि सात्विक भाव देखे जाते हैं। आध्यात्मिक सभाओंमें आध्यात्मिक मतका पोषण करते हैं। पुनः विषय सुखके लिये नितान्त उन्मत्तकी तरह प्रयास करते देखे जाते हैं। अतः हे पाठक वर्ग! ऐसे परस्पर विरोधी भावोंको रखने वाले लोगोंकी निष्ठाको क्या कहा जाय? हम तो यह समझते हैं कि ये लोग प्रतिष्ठा लाभ करनेके लिए ही भक्तोंके निकट भक्ति-भावका लक्षण दिखलाया करते हैं। कहीं प्रतिष्ठा-अर्जनके लोभसे और कहीं किसी दूसरे पार्थिव लाभके लोभसे, इस प्रकार बहुरूपी व्यवहार करते हैं। दुःखकी बात यह है कि ये लोग जन साधारणमें कपट भक्तिकी शिक्षा देकर भक्ति-देवीके प्रति अपराध तो करते ही हैं, अधिक रूपमें जगत्के जीवोंका सर्वनाश भी करते हैं।

पाठकवर्ग! हमें सावधान होना चाहिये। हमें ऐसा करना चाहिये, कि जिससे भक्ति-देवीके प्रति अपराध न हो। सबसे पहले यह प्रतिज्ञा करें कि हम निरपेक्ष होकर भक्तिका आचरण करेंगे। लोकरंजन या लोकसंग्रहके लिये हम भक्ति-प्रतिकूल न तो कोई आचरण करेंगे और न कोई भक्ति-प्रतिकूल चर्चा ही करेंगे। सभी कार्योंमें सरल रहेंगे। कथनी-करनीमें अन्तर जैसा व्यवहार न करेंगे। भक्तिके प्रतिकूल पक्षके लोगोंको कोई कृत्रिम लक्षण दिखलाकर प्रतिष्ठा पानेके लिए यत्न न करेंगे। शुद्धा-भक्तिका ही पक्ष ग्रहण करेंगे। दूसरे किसी भी सिद्धान्तके पक्ष का समर्थन नहीं करेंगे। हमारा हृदय और व्यवहार एकरूप हो।

तृतीय अध्याय

भक्तिका स्वभाव–विवेक

शुद्धभक्ति–स्वभावस्य प्रभावान् यत्पदाश्रयात्।
सदैव लभते जीवस्तं चैतन्यमहं भजे॥

शुद्धाभक्तिके छः लक्षण हैं—क्लेशघ्नी, शुभदा, मोक्षलघुताकृत्, सुदुर्लभा, सान्द्रानन्द–विशेषात्मा (घन आनन्द) और कृष्णाकर्षिणी। साधन अवस्थामें भक्तिके केवल पहले दो गुण लक्षित होते हैं, भावास्थामें पहले चार और प्रेमावस्थामें उक्त छहों गुण लक्षित होते हैं। नीचे भक्तिके स्वभावगत इन छः गुणोंका क्रमशः विवेचन किया जा रहा है।

(१) क्लेशघ्नी अर्थात् जो भक्तिका आश्रय लेते हैं, भक्तिदेवी स्वभावतः उनके समस्त प्रकारके क्लेशोंको दूर कर देती हैं। क्लेश तीन प्रकारके हैं—पाप, पापबीज और अविद्या। जीवोंने जन्म–जन्मांतरोंमें जो पाप किये हैं, अथवा करेंगे, उन समस्त पापोंके फल–स्वरूप जीवोंको कष्ट भोगने पड़ते हैं। श्रीचैतन्य–शिक्षामृत, द्वितीय–वृष्टि, पंचम–धारामें प्रधान–प्रधान पापोंका विवेचन हुआ है। उन पापोंको दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है। वे दो भाग हैं—प्रारब्ध और अप्रारब्ध।

जन्म प्राप्तकर उसी जन्ममें जीव जिन पापोंका फल भोग करनेके लिये बाध्य होते हैं, उन पापोंको प्रारब्ध पाप कहते हैं। आने वाले जन्ममें भोगके लिये बचे हुए पापोंको अप्रारब्ध

पाप कहते हैं। जन्म-जन्मान्तरोंमें जीव जिन पापोंका आचरण करते हैं, वे पूर्वकृत अप्रारब्ध पापकी श्रेणीमें परिगणित होकर अगले जन्ममें प्रारब्ध पाप हो पड़ते हैं। इस प्रकार अनादि विधिके द्वारा जीव जन्म-जन्मान्तरोंमें अपने किये हुए पाप कर्मोंका फल अवश्य ही भोग करते हैं। ब्राह्मणके घरमें जन्म, मुसलमानके घर जन्म, धनीके घर जन्म, दरिद्रके घर जन्म, सुन्दर होना, कुरूप होना आदि सब कुछ प्रारब्ध कर्म-फल हैं। इनमें यवन-जन्म इत्यादि प्रारब्ध-पाप हैं। भक्ति प्रारब्ध और अप्रारब्ध—दोनों प्रकारके पापोंका ध्वंश करती है। विधिपूर्वक ज्ञानका आचरण करनेपर ज्ञान अप्रारब्ध कर्मको नष्ट करता है। ज्ञानियोंके शास्त्रके अनुसार प्रारब्ध कर्म अवश्य ही भोग करने पड़ते हैं। परन्तु भक्ति प्रारब्धको भी नष्ट कर डालती हैं—

यन्नामधेय श्रवणानुकीर्त्तनात् यत्-
प्रह्वणात् यत् स्मरणादपि क्वचित्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नुदर्शनात्॥

(भा. ३/३३/६)

हे भगवन्! तुम्हारा नाम श्रवण और कीर्त्तनकर, तुम्हें नमस्कार कर तथा तुम्हें स्मरण कर जब चाण्डाल भी तुरन्त ही अर्थात् जन्मान्तरकी अपेक्षा न करके सवन यागका अधिकारी हो जाता है अर्थात् ब्राह्मणका अधिकार प्राप्त कर लेता है, तब तुम्हारे दर्शनसे क्या लाभ होता हैं, यह कहा नहीं

जा सकता। यहाँ दुर्जातिरूप प्रारब्ध-पाप भक्तिसे स्वाभाविक रूपमें नष्ट हो जाता है—यह कहा गया हे।

अब देखिये, भक्ति अप्रारब्ध पापको भी नष्ट करती है—

अप्रारब्ध-फलं कूंट बीजं फलोन्मुखम्।
क्रमेणैव प्रलीयेत विष्णुभक्ति-रतात्मनाम्॥

(पद्मपुराण)

जिनको विष्णुभक्तिके प्रति अनन्यरूपसे अनुराग है, उनके अप्रारब्ध पाप, कूट अर्थात् बीजत्व प्राप्तिके उन्मुख अर्थात् वे सब अर्जित पाप जो केवल अभी वासनाका रूप ले रहे हैं, बीज अर्थात् वासनामय पाप-समूह और फलोन्मुख अर्थात् प्रारब्ध पाप-समूह सभी क्रमशः नष्ट हो जाते हैं। भक्तोंके पाप-नाशके लिये पृथक रूपमें कर्म या ज्ञानमय प्रायश्चित्तकी आवश्यकता नहीं है।

जीवोंके हृदयमें स्थित पाप-वासनाको पाप-बीज कहते हैं। पाप बीज केवल भक्तिके द्वारा ही नष्ट होता है।

तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदान-व्रतादिभिः।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्‌घ्रि-सेवया॥

(भा. ६/२/१७)

धर्मशास्त्रोंमें साधारण कर्ममार्गमें अनुष्ठित होने वाले कष्टपूर्ण चान्द्रायण आदि व्रतरूप प्रायश्चित्तों द्वारा तथा दूसरे-दूसरे शास्त्रोंमें तपस्या-दानादि द्वारा जो पाप-नाशकी व्यवस्थाएँ हैं, उनसे केवल वे पाप ही नष्ट होते हैं, जिनके लिये वे अनुष्ठित होते हैं। इन प्रायश्चित्तोंसे उन पापोंका बीज अर्थात् अविद्यासे उत्पन्न पाप-वासना नष्ट नहीं होती।

पाप-वासना केवल कृष्ण-सेवासे ही दूर होती है। अर्थात् भक्तिके अतिरिक्त किसी भी दूसरे उपायसे पाप-बीज-रूप हृदय वासनाको दूर नहीं किया जा सकता है। भक्तिदेवीके हृदयमें विराजमान होते ही पाप-वासना और साथ ही साथ पुण्य वासना भी समूल ध्वंश हो जाती है।

पद्मपुराण और श्रीमद्भागवतमें भक्तिके अविद्या हरत्त्वके सम्बन्धमें उल्लेख है—

कृतानुयात्रा विद्याभिर्हरिभक्तिरनुत्तमा ।
अविद्यां निर्दहत्याशु दावज्वालेव पन्नगीम्॥

जब हरिभक्ति हृदयमें विराजमान होती हैं, तब उनके पीछे-पीछे विद्याशक्ति पधारकर जीवोंके हृदय स्थित अविद्याको तुरन्त दग्ध कर देती हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे दावानल बनमें रहने वाली सर्पिणीको दग्ध कर डालती है।

यत्पाद-पंकज-पलाश-विलास-भक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयो दनिरुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

(भा. ४/२२/२३)

विषयोंके प्रति विरक्त मतिवाले यतिगण अपनी समस्त इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर भी अहंकार रूप हृदय-ग्रन्थिको उस प्रकार नहीं खोल पाते, जिस प्रकार भक्तजन श्रीकृष्णपादपद्म पलास-विलासरूप भक्ति द्वारा अत्यन्त सहज ही खोल लेते हैं। अतएव परम आश्रयरूप उन श्रीकृष्णका ही भजन करो।

ज्ञान चेष्टाके द्वारा अविद्याका कुछ-कुछ नाश होनेपर भी भक्तिके बिना निराश्रित साधकका पतन अनिवार्य है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्त-मानिनस्त्व-
य्यस्तभावादविशुद्ध-बुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परंपदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदङ्घ्रयः ॥

(भा. १०/२/३२)

हे कमलनयन! जो लोग ज्ञान मार्ग द्वारा "नेति-नेति" कर जड़के अतिरिक्त कोई अवस्था प्राप्त होकर अपनेको मुक्त मानते हैं, और आपकी भक्तिसे विमुख होते हैं, उनकी बुद्धि शुद्ध नहीं होती। वे अत्यन्त दुःखसे अविद्याको पारकर ब्रह्मरूप परम पद प्राप्तकर भी आपके चरण-कमलोंके नित्य आश्रयके अभावमें पुनः अधःपतित हो जाते हैं।

हे अन्तरंग भक्तवृन्द! अविद्याका नाम सुनकर आपलोगोंको अविद्याका स्वरूप जाननेके लिए उत्कंठा हुई होगी। इसीलिये मैं अविद्याके सम्बन्धमें दो-एक बातें बतला रहा हूँ। श्रीकृष्णकी अनन्त प्रकारकी शक्तियाँ हैं। उनमें से चित्शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्ति—ये तीन शक्तियाँ प्रधान रूपसे परिचित हैं। चित्शक्तिसे भगवद्धाम एवं भगवत्लीलाके समस्त उपकरण प्रकाशित होते हैं। चित्शक्तिका दूसरा नाम स्वरूप शक्ति है। जीवशक्तिसे अनन्त जीवोंका उदय हुआ है। जीव स्वरूपतः शुद्ध चित् तत्त्व हैं, परन्तु पूर्णताके अभावमें मायामें फँसनेके योग्य होते हैं। वे इच्छा करनेसे कृष्ण-विमुख होकर मायाके अधीन हो सकते हैं अथवा इच्छा करनेसे कृष्ण-उन्मुख

होकर मायासे मुक्त होकर कृष्ण सेवा कर सकते हैं। बद्ध और मुक्त जीवोंका यही पार्थक्य है। बद्धावस्थामें जीवस्वरूपके ऊपर माया दो प्रकारसे कार्य करती है—एक विद्या-वृत्तिसे, दूसरे अविद्या-वृत्तिसे। माया अपनी अविद्या-वृत्तिद्वारा जीवके स्वरूपगत शुद्ध अहंकारको आच्छादितकर जड़तत्त्वमें अहंबुद्धि रूप मिथ्याभिमान (विकृत अहंकार) पैदा करा देती है। इस अविद्याका बन्धन ही जीवकी बद्धावस्थाकी प्राप्ति है। अविद्यासे मुक्त होनेपर जीव निरुपाधिक होकर मुक्तावस्था प्राप्त करते हैं। अतएव अविद्या और कुछ नहीं, केवल जीवके स्वरूपको भ्रममें डालनेवाली मायाकी एक वृत्ति-विशेष है। अविद्यासे जीवमें कर्म वासना होती है। कर्म-वासनासे पाप-पुण्यकी क्रिया आरम्भ होती है। यह अविद्या ही जीवोंके समस्त दुःखोंकी जड़ है। एकमात्र भक्ति ही इस अविद्याका नाश करनेमें समर्थ है। कर्म केवल पापका नाश कर सकता है। ज्ञान—पाप-पुण्य दोनोंकी मूल वासनाका नाश कर सकता है। परन्तु भक्ति पापको, पाप-पुण्यके बीज वासना को एवं वासनाकी जननी—अविद्याको भी जड़से ध्वंश कर डालती है।

(२) भक्ति स्वभावतः शुभदा होती है। श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

शुभानि प्रीणनं सर्व-जगतामनुरक्तता ।
सद्‌गुणाः सुखमित्यादीन्याख्यातानि मनीषिभिः॥

सम्पूर्ण जगत्‌के प्रति प्रीति एवं सम्पूर्ण जगत्‌का अनुराग-लाभ, समस्त सद्‌गुण और सुख आदि कतिपय मंगलमय प्राप्तियोंको पंडितजन शुभ बतलाते हैं। अब पद्मपुराणमें यह कहलाया

गया है कि सम्पूर्ण जगत्के प्रति प्रीति और सम्पूर्ण जगत्का अनुराग लाभका तात्पर्य क्या है?—

येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि।
रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जंगमा स्थावरा अपि॥

जिन्होंने श्रीहरिका अर्चन किया है, उन्होंने समग्र जगत्को तृप्त कर दिया है। स्थावर एवं जङ्गम समस्त प्रकारके प्राणी उनके प्रति अनुराग करते हैं। तात्पर्य यह है कि हरि-भजन परायण व्यक्ति सबके प्रति विद्वेष रहित निश्छल अनुराग करते हैं, इसलिए दूसरे भी उनके प्रति अनुराग करते हैं।

भक्तोंमें समस्त प्रकारके सद्गुणोंका स्वभावतः ही विकास होता है। भक्तोंके जीवन-चरित्रसे इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस विषयमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः॥

भगवानके प्रति जिनकी अकिंचना भक्ति होती है, उनमें समस्त सद्गुणोंके साथ समस्त देवता निवास करते हैं। असत् मनोरथोंके कारण बहिर्विषयोंके पीछे-पीछे भागनेवाले अभक्त पुरुषोंमें महद् गुणोंके पाये जाने की संभावना कहाँ? दया, सत्य, नम्रता, वैराग्य, ज्ञान आदि महद्गुण भक्तिपूत हृदयमें ही उदित होते हैं। विषय वासनाओंसे पूर्ण हृदयमें ये सब गुण अनेक प्रयत्न करने पर भी उदित नहीं होते। सुखप्राप्ति शुभके अन्तर्गत होने पर भी उसका विवेचन पृथक् किया जा रहा है। भक्ति स्वभावतः सुखदा होती है। श्रीरूप गोस्वामीने लिखा है—

बद्ध जीवके सुख तीन प्रकारके होते है। मुक्त जीवोंको

वैषयिक सुख नहीं होता। तीन प्रकारके सुख ये हैं—वैषयिक सुख, ब्राह्म-सुख, ऐश्वर-सुख। जड़ जगतमें जितने प्रकारके जड़ाश्रित सुख हैं, वे सभी वैषयिक सुख हैं। अष्टादश सिद्धि, स्वर्ग आदि सुख और समस्त प्रकारके ऐहिक सुख ही वैषयिक सुख हैं। सांसारिक भोग-विषयोंको दुःखपूर्ण एवं अनित्य जानकर नेति-नेति कहते हुए उनको छोड़नेकी चेष्टाको व्यतिरेक चेष्टा कहते हैं। ऐसी व्यतिरेक चेष्टाद्वारा जड़ीय भावको दूरकर विकारहीन ब्रह्ममें अपनी आत्माको ऐक्यरूपमें चिन्तन करते-करते जो निर्विशेष-सुख होता है, उसे ब्राह्म-सुख कहते हैं। षड़ैश्वर्यपूर्ण भगवानके नित्य आनुगत्यसे जो सुख मिलता है, उसे ऐश्वर-सुख कहते हैं। हरिभक्ति स्वभावतः समस्त प्रकारके सुखोंको प्रदान करती है। अवस्था भेद और वासनानुसार वे वैषयिक या ब्राह्म अथवा ऐश्वर—समस्त प्रकारके सुखोंको प्रदान कर सकती है।

सिद्धयः परमाश्चर्या भुक्तिमुक्तिश्च शाश्वती।
नित्यञ्च परमानन्दं भवेद् गोविन्द भक्तितः॥

(तंत्र)

अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, ईषिता, वशित्व, प्राकाम्य, कामवसायिता—ये आठ सिद्धियाँ, समस्त प्रकारके विषय सुख, मुक्ति अर्थात् ब्राह्म-सुख एवं नित्य परमानन्द—सब कुछ श्रीगोविन्दकी भक्तिसे प्राप्त होता है। 'श्रीहरिभक्ति-सुधोदय' में लिखा है—

भूयोऽपि याचे देवेश त्वयि भक्तिदृढ़ास्तु मे।
या मोक्षान्त-चतुर्वर्ग-फलदा सुखदा लता॥

देवेश! मैं पुनः यह वर मांगता हूँ कि तुम्हारे प्रति अनन्य भक्ति हो, जिस भक्तिके प्रभावसे अपने अधिकारके अनुसार कोई-कोई अर्थ, धर्म, काम और मोक्षरूप फलको प्राप्त करते हैं और कोई-कोई प्रेम-सुखको लाभ करते हैं। तात्पर्य यह है कि भक्ति समस्त प्रकारके सुखोंको देनेमें समर्थ है। परन्तु भक्तजन समस्त प्रकारके सुखोंको अर्थात् वैषयिक और ब्राह्म सुखोंको अत्यन्त तुच्छ मानकर प्रेम-सुख की ही खोज करते हैं। भक्तिकी सहायताके बिना कर्म और ज्ञान कोई भी फल देनेमें असमर्थ हैं। अतएव किसी भी अवस्था या अधिकारमें भक्तिके बिना सुखोदय नहीं हो सकता।

(३) भक्ति स्वभावतः मोक्षको भी हेय समझती है। नारद-पंचरात्रमें कहा गया है—

हरिभक्ति महादेव्याः सर्वा मुक्त्यादि सिद्धयः।
भुक्तयस्त्वद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः ॥

भुक्ति आदि समस्त प्रकारकी सिद्धियाँ और निखिल अद्‌भुत भुक्तियाँ परिचारिकाकी तरह हरिभक्ति महादेवीके पीछे-पीछे चलती हैं। श्रीरूप गोस्वामीने भी इसे बड़े ही सुन्दर शब्दोंमें कहा है—

मनागेव प्ररूढ़ायां हृदये भगवद्रतौ।
पुरुषार्थस्तु चत्वारस्तृणायन्ते समन्ततः॥

अतएव जिस समय धर्म, काम और मोक्ष रूप चतुर्वर्ग स्वभावतः अत्यन्त तुच्छ बोध होने लगेगा, तभी शुद्ध भक्तिका उदय स्वीकार किया जायेगा।

(४) हरिभक्ति अत्यन्त ही दुर्लभ है। श्रीरूप गोस्वामी भक्तिकी सुदुर्लभताके सम्बन्धमें लिखते हैं—

साधनौघैरनासंगैरलभ्या सुचिरादपि ।
हरिणा चाश्वदेयेति द्विधा सा स्यात् सुदुर्लभा ॥

हरिभक्ति अत्यन्त ही दुर्लभ है। इसके दो कारण हैं। पहला यह कि बहुत समय तक निष्ठा और आग्रह शून्य होकर बहुतसे साधन करनेपर भी इसे पाया नहीं जाता। दूसरा कारण यह कि आसङ्ग युक्त साधनमें लगनेपर भी श्रीहरि अपनी भक्तिको सहज ही देना नहीं चाहते। 'आसङ्ग' शब्दका तात्पर्य भजन-निपुणतासे है। भजन-विषयक निपुणताके अभावमें कोई भी साधन हरिभक्ति प्रदान करनेमें समर्थ नहीं है। भजन निपुणताके साथ बहुत दिनोंतक भजन करनेसे नामापराध और वैष्णवापराध दूर होनेके पश्चात्-भगवत् कृपासे स्वरूप-ज्ञानमयी परा-भक्तिका उदय होता है।

ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादि पुण्यतः।
सेयं साधन-सहस्रैर्हरिभक्तिः सुदुर्लभा ॥

ज्ञानसे मुक्ति अनायास ही पायी जा सकती है और यज्ञादि पुण्य कर्मोसे मुक्ति सहज ही मिल सकती है, परन्तु सहस्र-सहस्र साधनों द्वारा भी हरिभक्ति सहज ही नहीं पायी जाती।

भगवान् अपनी भक्तिको सहज ही नहीं देते, इसकी पुष्टि श्रीमद्भागवतके इस श्लोकसे होती है—

राजन् पतिर्गु रुर्बलं भक्तां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्वच किंकरो वः।

अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्॥

राजन्! भगवान् मुकुन्द स्वयं पाण्डव लोगोंके और यदुवंशियोंके रक्षक, गुरु, इष्टदेव, सुहृद् और कुलपति थे। यहाँतक कि वे कभी-कभी आज्ञाकारी सेवक भी बन जाते थे। यह थोड़े सौभाग्यकी बात नहीं है, क्योंकि भगवान भजनकारियोंको मुक्ति तो सहज ही दे देते हैं, परन्तु मुक्तिसे भी श्रेष्ठ जो भक्तियोग है, उसे सहजमें नहीं देते। यहाँ श्रीजीव गोस्वामी प्रभुने लिखा है—*"तस्मादासङ्गेनापि कृते साधनभूते साक्षात् भक्तियोगे सति यावत् फलभूते भक्तियोगे गाढ़ासक्तिर्न जायते तावन्न ददातीत्यर्थः।"* तात्पर्य यह कि जो नवधा भक्तिका अवलम्बन कर भगवद्भजनमें तत्पर हैं, वे जब तक शुद्ध-स्वरूप-ज्ञानमयी फल भक्तिरूपा रति तत्त्वके प्रति प्रगाढ़ रूपसे आसक्त नहीं होते, तब तक भगवान् उनको शुद्धा-भक्ति नहीं प्रदान करते। उस समय तक अर्थात् गाढ़ी आसक्ति होनेके पूर्व तक उनकी भक्ति छाया-भक्त्याभासके रूपमें होती है।

(५) भक्ति स्वभावतः सान्द्रानन्द-विशेषात्मा अर्थात् घनीभूत आनन्द है। यह पहले ही कहा गया है कि भगवान पूर्ण सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं और जीव उनका किरण-स्थानीय अणुचिदानन्द तत्त्व है। अतएव जीवमें भी चित् और आनन्द अल्प परिमाणमें है। आनन्द कहनेसे लोग साधारणतः जड़ सुखको समझते हैं, परन्तु समस्त जड़-सुखोको एकत्र करनेपर जो सुख होता है, वह भी आनन्द-तत्त्वके सामने अत्यन्त तुच्छ होता है। जड़ीय आनन्द अत्यन्त शिथिल और क्षणिक होता

है। चिदानन्द सान्द्र अर्थात् घनीभूत आनन्द विशेष है। भक्ति सान्द्रानन्द या घनीभूत आनन्द है। यह जीवका सहजानन्द है। इसके निकट ब्रह्मानन्द भी कुछ नहीं है। ब्रह्मानन्द जीवका नित्यानन्द नहीं है, वह तो केवल जड़ विपरीत चिन्ता-सुख मात्र है। अतएव श्रीरूप गोस्वामीने कहा है—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्ध-गुणीकृतः।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणु-तुलामपि॥

केवलाद्वैतवादी अर्थात् निर्विशेषवादी जिसे ब्रह्मानन्द कहते हैं, उसे कोटिगुणित करनेपर जो आनन्द होता है, वह भक्तिसुख-समुद्रकी एक बूंदके समान भी नहीं होता। तात्पर्य यह कि ब्रह्मानन्दको कल्पनाके द्वारा जितना भी खींचकर लम्बा क्यों न किया जाय, वह जीवके स्वरूपगत आनन्दकी समता तो दूर रहे, तनिक सादृश्यता भी प्राप्त नहीं कर सकता। जीवका स्वरूपानन्द सहज वस्तु है, अतएव स्वाभाविक है। ब्रह्मानन्द जीव तत्त्वके विरूपगत चेष्टासे उत्पन्न होनेके कारण अस्वाभाविक है, अतएव अस्थायी होता है। इसलिए 'हरिभक्ति-सुधोदय'में कहा है—

त्वत्साक्षात्-करणाह्लाद-विशुद्धाब्धि-स्थितस्य मे।
सुखानि गोस्पदायन्ते ब्राह्माण्यपि जगद्गुरो॥

भगवन्! मैं आपका दर्शन प्राप्तकर विशुद्ध आनन्द-समुद्रमें स्थित हो गया हूँ। इस समय जड़ सुखकी तो बात ही क्या, ब्रह्मसुख आदि मुझे गोष्पद-तुल्य प्रतीत हो रहे हैं। शास्त्रोंमें ऐसे-ऐसे बहुतसे वचन हैं।

(६) भक्ति कृष्णको आकर्षण करनेवाली है। जैसा श्रीरूप गोस्वामी लिखते हैं—

कृत्वा हरिं प्रेमभाजं प्रियवर्ग–समन्वितम्।
भक्तिर्वशीकरोतीति श्रीकृष्णाकर्षिणी मता॥

शुद्धभक्ति समस्त प्रियजनोंके साथ श्रीकृष्णको प्रेम द्वारा वशीभूत कर लेती है, भक्तिदेवीका यही श्रीकृष्णाकर्षणीत्व धर्म है। तात्पर्य यह है कि साधन अवस्थामें जबतक शुद्ध–भक्ति उदित नहीं होती, तबतक भक्त्याभास ही कार्य करता है। उस अवस्थामें भक्ति दुर्लभ है। परन्तु साधन–दशा होनेपर जब शुद्धाभक्ति उदित होती है, तब कतिपय भजनाङ्गोंका सौन्दर्य विकसित हो पड़ता है। उस समय जीवका सिद्ध–स्वरूपानुभव और भगवत्तत्त्वका सिद्ध- स्वरूपानुभव—ये दोनों उक्त सौन्दर्योंके माध्यमसे प्रदीप्त हो उठते हैं। फल यह होता है कि भक्तिके प्रति चित्तमें आसक्तिरूप गाढ़ी व्याकुलता पैदा होती है। इसी प्रकार भजन–दशा उपस्थित होनेपर शुद्धा साधन–भक्ति शीघ्र ही रति या भावरूपमें प्रस्फुटित होकर अन्तमें प्रेमरूपमें पूर्ण विकसित हो जाती है। भावावस्थामें भक्ति प्रियजनोंके साथ श्रीकृष्णको आकर्षण मात्र करती है, परन्तु प्रेमावस्थामें भक्ति भक्तको श्रीकृष्ण–लीलाका उपकरण बनाकर उसे परम रसका आस्वादन कराती है। आगे इसका और भी सुस्पष्ट रूपसे विवेचन किया जायेगा। नीचे पाँच श्लोकोंमें विश्ववैष्णवदास इस विषयका विचार दे रहे है—

क्लेशघ्नी शुभदा–भक्तिर्यदा सा साधनात्मिका।
हृदये बद्ध–जीवानां तटस्थ–लक्षणान्विता॥१॥

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सा भक्तिर्भावरूपेण यावत्तिष्ठति चेतसि॥२॥
प्रेमरूपा यदा भक्तिस्तदा तत्तद्गुणान्विता।
सान्द्रानन्द–विशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा॥३॥
मुक्तानामेव सा शश्वत् स्वरूपानन्दरूपिणी।
सम्बन्ध–स्वरूपा नित्यं राजते जीव–कृष्ण योः॥४॥
भक्त्याभासेन या लभ्या मुक्तिर्माया निकृन्तनी।
सा कथं भगवद्भक्तेः साम्यं कांक्षति चेटिका॥५॥

भक्तिकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—साधन–अवस्था, भाव–अवस्था और प्रेम–अवस्था। साधन–अवस्था प्राप्त भक्तिका स्वभाव दो प्रकारका होता है—क्लेशघ्नत्व अर्थात् क्लेशको दूर करनेवाली और शुभदत्व अर्थात् परम कल्याणको देने वाली। भावावस्थामें भक्तिके चार प्रकारके स्वभाव लक्षित होते हैं—(१) क्लेशघ्नत्व (सब प्रकारके दुःखोंका नाश करना) (२) शुभदत्व (सम्पूर्ण कल्याणको देना), (३) मोक्ष लघुताकारित्व (मोक्षको भी तुच्छ समझना) और (४) सुदुर्लभत्व (दुर्लभ होना)। प्रेमावस्थामें भक्तिके उक्त चार स्वभाव तो प्रकाश पाते ही हैं, अधिक रूपमें दो स्वभाव और भी लक्षित होते हैं—(१) सान्द्रानन्द–विशेषत्व (घनआनन्दत्व) और (२) श्रीकृष्णाकर्षकत्व (श्रीकृष्णको भी आकर्षण करना)। जीव जबतक बद्धावस्थामें रहता है, तबतक भक्तिके स्वरूपगत सान्द्रानन्द–स्वरूपत्व, श्रीकृष्णाकर्षकत्व और सुदुर्लभत्व—इन तीन स्वभावोंके साथ तीन तटस्थ स्वभाव अर्थात् क्लेशघ्नत्व, शुभदत्व और मोक्षलघुता–कारित्व स्वभाव सम्बद्ध रहते हैं। मुक्तावस्थामें जीवकी भक्ति—जीव और

कृष्णके बीच नित्य सम्बन्धगत सेवा और स्वरूपानन्दरूपिणी होकर विराजमान होती है। मायाके आवरणका नाश करने वाली मुक्ति भक्त्याभाससे ही प्राप्त हो जाती है। वह मुक्ति भक्तिदेवीकी बहुत-सी परिचारिकाओंमें से एक साधारण परिचारिका मात्र है। वह भक्तिदेवीके समान होनेकी वासना कैसे कर सकती है?

चतुर्थ अध्याय

भक्त्यधिकार–विवेक

कर्म–ज्ञान विरागादि–चेष्टां हित्वा समन्ततः।
श्रद्धावान् भजते यं श्रीचैतन्यमहं भजे॥

प्रथम अध्यायमें 'शुद्धा भक्तिका स्वरूप', दूसरे अध्यायमें भक्ति जैसी दिखलाई पड़नेवाली परन्तु स्वरूपतः भक्ति नहीं, अर्थात् 'भक्ति आभास'का स्वरूप, तीसरे अध्यायमें 'शुद्धा–भक्तिका स्वभाव' विवेचित हुआ है। अब इस अध्यायमें 'शुद्धा भक्तिके अधिकार' पर विचार किया जा रहा है। अधिकारके बिना किसीको कुछ भी नहीं मिलता है। अधिकार या योग्यता ही सफलताकी आधार–शिला है। इस बातको पूरी तरहसे समझ लेनेपर प्राप्तिके सम्बन्धमें तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता। बहुतसे लोग ऐसा सोचते हैं कि हमने बहुत समयसे गुरु–पदाश्रय किया है, उनसे भगवन्मंत्र ग्रहण किया है, श्रवण और कीर्त्तन भी कर रहे हैं, परन्तु कोई फल नहीं हो रहा है, क्यों? धीरे–धीरे भजनमें अरुचि और अन्तमें अविश्वास हो जाता है। इसलिये अधिकार सम्बन्धी विचार को भलीभाँति जान लेनेपर ऐसे–ऐसे संदेहोंसे सहज हो रक्षा हो सकती है। स्मरण रहे कि सभी लोगोंका श्रवण–कीर्त्तन आदि तथा श्रवण कीर्त्तनजन्य अश्रु–पुलक आदि भक्ति नहीं है। इसलिये शुद्धा–भक्तिका आश्रय लेनेके लिये अधिकारका निर्णय होना नितांत कर्त्तव्य

है। कर्माधिकारी या ज्ञानाधिकारीका हरिभजन प्रायः कर्म या ज्ञानका अङ्ग हो पड़ता है। इसलिये जैसा मङ्गलमय फल होना चाहिये, वैसा वे प्राप्त नहीं कर पाते।

शुद्धा-भक्तिमें अधिकार प्राप्त करने पर ही हरिभजन शुद्ध होता है और शीघ्र ही शुद्धाभक्ति होकर भावरूपी फलको उदय कराता है। इसलिए अधिकार-निर्णयमें प्रवृत्त हुआ हूँ।

पण्डितजन श्रीमद्भगवतगीतासे इस श्लोकको उद्धत करते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

(श्रीगीता ७/१६)

हे अर्जुन! जन्म-जन्मान्तरकी पुण्य-राशिके प्रभावसे आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार श्रेणीके जीव मेरा भजन करते हैं। ये चार प्रकारके सुकृतिशाली पुरुष ही मेरे भजनके अधिकारी हैं। अपने दुःखको दूर करनेके लिये जिनकी व्याकुलता भरी इच्छा होती है, वे आर्त्त हैं। जिनके हृदयमें तत्त्वको जाननेके लिये जिज्ञासा उत्पन्न होती है, वे जिज्ञासु हैं। सुख पानेकी इच्छा रखनेवाले लोग अर्थार्थी कहलाते हैं। जो निर्बाध गतिसे तत्त्वका दर्शन करते हैं, वे ज्ञानी कहलाते हैं। आर्त्त हो, जिज्ञासु हो, अर्थार्थी हो या ज्ञानी हो, सुकृति नहीं रहने पर इनकी भजनमें प्रवृत्ति नहीं होती। श्रीजीव गोस्वामीने 'सुकृति'—शब्दका अर्थ—'भक्ति-वासना हेतु महत्-सङ्गसे युक्त कार्य' बतलाया है। इनमें से आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी—इन तीन प्रकारके लोगोंमें सुकृतिके रहने या न रहनेके सम्बन्धमें

संशय हो सकता है, परन्तु ज्ञानीके सम्बन्धमें यह संशय नहीं रहता। ज्ञानी निःसंदेह सुकृतिसम्पन्न होकर ही भजनमें प्रवृत्त होता है। श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

तत्र गीतादि–षूक्तानां चतुर्णामधिकारिणाम्।
मध्ये यस्मिन् भगवतः कृपा स्यात्तत् प्रियस्यवा॥
स क्षीणतत्तद्भावः स्याच्छुद्धभक्त्यधिकारवान्।
यथेभः शौनकादिश्च ध्रुवः स च चतुःसनः॥

(भ.र.सि. १/२/२०–२१)

गीता आदि शास्त्रोंमें जिन चार प्रकारकी भक्तिके अधिकारियोंका निर्देश है, उन लोगोंके ऊपर भगवान्‌की या भगवद्भक्तोंकी कृपा होने पर उनकी आर्त्ति, जिज्ञासा, अर्थकी वासना तथा उनका ज्ञान–भाव क्रमशः दूर होनेपर शुद्धाभक्तिमें अधिकार प्राप्त होता है। गजराज, शौनक आदि ऋषि, ध्रुव और सनक–सनातन आदि चार कुमार उदाहरणके रूपमें लिये जा सकते हैं। जब गजराज ग्राहके द्वारा पकड़े गये और अनेक प्रयास करनेपर भी अपनी रक्षा करनेमें समर्थ न हुए, तब बड़े आतुर होकर उन्होंने भगवान्‌को पुकारा। दीनोंके एकमात्र बन्धु भगवान् प्रकट हुए और ग्राहको मारकर गजराजको उबारा। उस समय भगवान्‌की कृपासे गजराजका आर्त्तभाव दूर होनेपर वह शुद्धा–भक्तिका अधिकारी हुआ। शौनक आदि ऋषि कलियुगके उपस्थित होनेपर बड़े भयभीत हुए। कर्मसे कुछ भी कल्याण नहीं होनेवाला—ऐसा सोचकर वे परम भागवत श्रीसूत गोस्वामीके निकट पहुंचे और उनसे जीवोंके परम कल्याणका उपाय पूछा। उत्तरमें सूत गोस्वामीने उन्हें शुद्धा–भक्तिका उपदेश दिया, जिसे

सुनकर उन्होंने शुद्धा-भक्ति प्राप्त की। ध्रुव अर्थ (राज्य) की कामकासे प्रेरित होकर भगवान्‌की उपासनामें तत्पर हुए। परन्तु जब भगवान् प्रकट हुए, तब उनकी कृपासे ध्रुवकी अर्थ कामना दूर हो गयी और उनका शुद्ध-भक्त्यधिकार उपस्थित हुआ। सनक, सनातन, सनन्दन और सनत्कुमार-ये चार कुमार हैं। ये पहले निर्विशेष ज्ञानी थे, बादमें भगवान् और भगवद्भक्त जनोंकी कृपा पाकर उन्होंने निर्विशेष बुद्धिका सम्पूर्ण रूपसे त्यागकर शुद्धा-भक्तिका अधिकार प्राप्त किया।

तात्पर्य यह है कि जब तक उनके हृदयमें आर्त्ति, जिज्ञासा, अर्थार्थी या ज्ञान रूप कषाय (कषैला होनेका भाव) वर्त्तमान था, तब तक उनका शुद्धा-भक्तिमें अधिकार नहीं हुआ था। इसलिये श्रीरूप गोस्वामीने शुद्धा-भक्तिके अधिकारके सम्बन्धमें लिखा है—

यः केनाप्यतिभाग्येन जातश्रद्धोऽस्य सेवने।
नातिसक्तो न वैराग्यभागस्यामधिकार्यसौ॥

(भ.र.सि. १/२/१४)

संसारके प्रति न तो अत्यन्त आसक्त हो और न सम्पूर्ण रूपसे विरक्त ही हो, ऐसी अवस्थामें जब अतिशय सौभाग्यसे कृष्ण-सेवामें मनुष्यकी श्रद्धा हो जाय, तो वह शुद्धा-भक्तिका अधिकारी समझा जाता है। तात्पर्य यह है कि संसारी मनुष्य नाना-प्रकारके दुखोंसे जर्जरित तथा प्रयोजनीय वस्तुओंके अभावसे क्लिष्ट होनेपर जब संसारकी चरम गतिका अनुभव करते हैं, तब वे संसारके प्रति अनासक्त होकर जीवन धारण करते हैं। सौभाग्यवश यदि उन्हें उस समय सत्संग मिल जाय,

तो वे सत्संगमें जिज्ञासा द्वारा यह जान जाते हैं कि भगवान्‌के सिवाय जीवकी कोई दूसरी गति नहीं है। धीरे-धीरे उनका इस बातपर दृढ़ विश्वास हो जाता है और वे भगवान्‌के भजनमें लग जाते हैं। उस समय उनमें कृष्ण-भक्तिके प्रति श्रद्धा पैदा होती है। यही श्रद्धा शुद्धा-भक्तिके प्रति अधिकारका मूल हेतु है—

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढ़निश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्॥

(भा. ११/२०/२७-२८)

उपर्युक्त श्लोकोंकी व्याख्या करते हुए भक्ति-सन्दर्भमें श्रीजीव गोस्वामीने लिखा है—'तदेवमनन्य-भक्त्यधिकारे हेतु श्रद्धामात्रमुक्त्वा स यथा भजेत तथा शिक्षयति' अर्थात् उक्त श्लोकोंमें एकमात्र श्रद्धाको ही अनन्य भक्तिके प्रति अधिकारका हेतु बतलाकर श्रद्धालु पुरुष किस प्रकारसे भजन करते हैं, कह रहे हैं—मेरी लीला-कथाके प्रति श्रद्धालु पुरुष समस्त कर्मोंसे विरक्त होकर आपात्-सुखकर विषय-भोगको परिणाममें दुःखदायी जानकर भी जीवन निर्वाहके लिये तथा पूर्व-वासना रूप अनर्थके द्वारा कुछ अशंमें अधीन होकर उस कर्मजाल और कर्म-फलसे छुटकारा पानेके लिये सच्चे हृदयसे उन्हें दुःखजनक जानकर मन-ही-मन उन कर्मोंकी निन्दा करते हुए उनको भोग करते रहते हैं और साथ ही श्रद्धापूर्वक दृढ़ निश्चयके साथ मेरा भजन भी करते रहते हैं।

श्रीजीव गोस्वामी पुनः लिखते हैं—*"श्रद्धा हि शास्त्रार्थ-विश्वासः।*

शास्त्रञ्च तदशरणस्य भयं तच्छरणास्याभयं वदति। अतो जातायः श्रद्धायास्तत् शरणापत्तिरेव लिङ्गमिति।" अर्थात् शास्त्रोंके अर्थमें विश्वासका नाम—श्रद्धा है। शास्त्र यह कहते हैं कि जिन्होंने भगवान्‌के श्रीचरणोंमें शरण ली है, उन्हें कोई भय नहीं है, परन्तु जिन्होंने भगवान्‌के चरणोंमें शरण नहीं ली है, उन्हें भय है। अतएव शरणापत्ति लक्षण देखनेसे ही ऐसा समझना होगा कि श्रद्धा उत्पन्न हुई है।

शरणापत्ति किसे कहते हैं? श्रीजीव गोस्वामी लिखते हैं—*"जातायां श्रद्धायां सदा तदनुवृत्ति-चेष्टैव स्यात्", "कर्मपरित्यागो विधीयते।"* अर्थात् श्रद्धाके उत्पन्न होनेपर कृष्णानुवृत्तिचेष्टा (कृष्ण सेवामें निरन्तर प्रयत्न) सर्वदा लक्षित होती है और कर्म स्वरूपतः छूट जाता है। इसीको शरणापत्ति कहते हैं। श्रीमद्‌भगवद्‌गीतामें कर्म ज्ञान और भक्तिका अलग-अलग विवेचन करनेके पश्चात् अतिशय गुह्यतम उपदेश द्वारा भगवान्‌ने शरणापत्तिकी शिक्षा दी है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(श्रीगीता १८/६६)

सर्व-धर्म शब्दसे वर्णाश्रमरूप कर्म-निष्ठा और कृष्णके अतिरिक्त दूसरे देवताओंकी पूजा इत्यादि शरणापत्ति-बाधक धर्मोंको समझना चाहिए। उन सबका परित्यागकर तुम मेरी शरणापत्ति अर्थात् मेरे भजनके प्रति श्रद्धा स्वीकार करो। ऐसी दशामें यदि कर्मोंके स्वरूपतः त्यागजन्य पाप उपस्थित भी हो, तो कोई भय नहीं। मैं उन पापोंसे तुझे अवश्य ही मुक्त कर दूगा।

यहाँ शंका हो सकती है कि श्रद्धा-शब्दसे आदरका बोध होता है। कर्म और ज्ञान आदि अनुष्ठानोंमें भी श्रद्धाकी आवश्यकता है। अतएव श्रद्धा केवल भक्तिका ही हेतु नहीं, कर्म और ज्ञानका भी हेतु है। सिद्धान्त यही है कि श्रद्धा-शब्दसे शास्त्र-अर्थमें विश्वास-रूप भावका बोध होता है, और इस भावके अन्तर्गत एक और भी भाव निश्चित रूपमें वर्त्तमान रहता है, जिसका नाम 'रुचि' है। विश्वास रहनेपर भी किसी कार्यमें प्रवृत्ति नहीं होती, बल्कि उसके लिये रुचिकी भी आवश्यकता होती है। कर्म और ज्ञानमें जो श्रद्धा होती है, उसमें रुचि-रूपा भक्ति-परमाणु होता है। उस भक्तिके संसर्गसे ही कर्म और ज्ञान फल प्रदान करनेमें समर्थ होते हैं। उसी प्रकार भक्तिके सम्बन्धमें जो श्रद्धा उदय होती है, उसके साथ-साथ रुचि नामक एक भाव भी निहित रहता है। यह रुचिसे मिली हुई श्रद्धा ही भक्ति-लताका बीज है, जो जीव हृदयमें बोया जाता है। कर्म-श्रद्धा और ज्ञान-श्रद्धामें क्रमशः कर्म-रुचि और ज्ञान-रुचि मिली होती है, परन्तु इनमें श्रद्धाका रूप अलग-अलग होता है। भक्ति-रुचिके साथ मिली हुई श्रद्धाका लक्षण भक्तिमें ही पर्यवसित हो जाता है। इसीको शरणापत्ति कहते हैं। भक्ति-रुचि ही साधुसङ्ग, पश्चात् भजन और अनन्तर अनर्थशून्य अवस्था प्राप्त कर निष्ठा रूप धारणकर शुद्ध रुचि हो जाती है। इसलिये श्रद्धा भक्तिसे एक अलग तत्त्व है। श्रीजीव गोस्वामी भक्ति-संदर्भमें लिखते हैं—**''तस्माच्छ्रद्धा न भक्त्यंगं किन्तु कर्मण्यसमर्थविद्व-त्तावदन्याख्यायां भक्तौ अधिकारि-विशेषणमेव।''**

अतएव श्रद्धा भक्तिका अङ्ग नहीं है। परन्तु कर्मकाण्डसे

विरक्त होनेपर अनन्य भक्तिके अधिकारका विशेषण मात्र है। श्रीमद्‌भागवतमें कहा गया है—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथा–श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(भा. ११/२०/९)

जब तक कर्मके प्रति विरक्ति न पैदा हो जाय, अथवा मेरी लीला-कथाओंके श्रवणमें श्रद्धा न उत्पन्न हो जाय, तभी तक कर्मका आचरण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कृष्णकी लीला-कथाओंके प्रति श्रद्धा होनेपर कर्म त्यागका अधिकार उपस्थित हो जाता है—यही शास्त्रीय सिद्धान्त है।

शंका समाधानके लिये यही कहना है कि जब भक्ति अधिकार का हेतु रूप श्रद्धा ही भक्तिका अङ्ग नहीं है, तब ज्ञान और वैराग्य जो श्रद्धा उदय होनेके पहले कहीं-कहीं प्रकाश पाते हैं, भक्तिके अङ्ग नहीं हो सकते। श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

ज्ञान–वैराग्योर्भक्ति–प्रवेशोयोपयोगिता ।
ईषत् प्रथममेवेति नाङ्गत्वमुचितं तयोः॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु १/२/२४८)

किसी विशेष स्थलपर ज्ञान और वैराग्य, भक्ति-तत्त्वमें प्रवेश करते समय प्रारम्भमें कुछ-कुछ उपयोगी होते हैं। उन्हें कदापि भक्तिका अङ्ग नहीं कहा जा सकता।

अतः शरणापत्ति-लक्षणसे युक्त एक मात्र श्रद्धा ही शुद्धा भक्तिके अधिकारका हेतु है—यही सिद्धान्त स्थिर हुआ। कुछ लोग यह भी कहते सुने जाते हैं कि किसी-किसीको सुष्ठु

रूपसे कर्मका आचरण करनेपर, किसी-किसीको ज्ञानके अनुशीलनसे और किसी-किसीको विषय-भोगोंके प्रति वैराग्यसे कृष्णकी लीला-कथाओंके श्रवणमें श्रद्धा उत्पन्न होती है। परन्तु उनका यह कथन भ्रममात्र है। ऐसा हो सकता है कि श्रद्धा उत्पन्न होनेके ठीक कुछ ही पूर्व उपर्युक्त विषयोंका अनुशीलन हो गया हो, परन्तु सूक्ष्म विचार करने पर यह पता चल जायेगा कि उन-उन विषयोंके अनुशीलन और श्रद्धाका उदय—इन दोनों घटनाओंके बीच किसी न किसी रूपमें सत्संग अवश्य ही हुआ होगा। इस विषयमें श्रीमद्भागवतका यह श्लोक अनुशीलनीय है—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत-सत्समागमः।
सत् सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते रति॥

(भा. १०/५१/५३)

हे अच्युत! तुमसे विमुख होकर जीव कभी कर्म-मार्गके प्रति आसक्त होकर संसार-विषय-सुख प्राप्त करता है और कभी ज्ञानमार्गके प्रति अनुरक्त होकर अपवर्ग—मोक्ष पा रहा है। इस प्रकार बार-बार जन्म-मरणरूप संसारका चक्कर उसके लिये अनिवार्य है। इस प्रकार भ्रमण करते-करते यदि सौभाग्यसे कभी सत्संग मिल जाय, तभी सन्तोंके आश्रय, जड़ चेतन, सम्पूर्ण सृष्टिके ईश्वर और सद्गतिस्वरूप तुम्हारे चरण-कमलोंमें जीवकी बुद्धि दृढ़तासे लग जाती है। अतएव कर्म, ज्ञान और वैराग्य आदि श्रद्धाको उत्पन्न करनेमें कदापि समर्थ नहीं हैं, उसे तो एक सत्संग ही उत्पन्न करनेमें समर्थ है। इसीलिये श्रीरूप गोस्वामीने कहा है—

''यः केनाप्यतिभाग्येन जातश्रद्धोऽस्य सेवने'' इत्यादि।

इस प्रकार श्रद्धासे युक्त व्यक्ति ही शुद्धा भक्तिके एकमात्र अधिकारी हैं। यहाँपर एक विचार और है। साधन-भक्ति दो प्रकारकी होती है अर्थात् वैध-साधन-भक्ति और रागानुगा-साधन-भक्ति—

वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा।

(भक्तिरसामृतसिन्धु १/२/५)

वैधी साधन-भक्ति और रागानुगा-साधन-भक्तिमें क्या अन्तर है—इसे समझना आवश्यक है। क्योंकि इनके भेदको नहीं समझनेसे नाना प्रकारके संशय बने रहेंगे, जो भक्तिके लिये विशेष हानिकारक हैं। वैधी-भक्तिके सम्बन्धमें श्रीरूप गोस्वामीने लिखा है—

यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते।
शाशनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु १/२/६)

भक्ति जीवकी स्वाभाविक वृत्ति है। यह उनके चित्स्वरूपका अभिन्न धर्म है। जीव बद्ध होनेपर भगवद्विमुख होकर माया-प्रसूत सांसारिक विषयोंके प्रति अनुरक्त हो पड़ता है। विषय-सुखमें आसक्त होते ही उसकी कृष्ण-सेवा प्रवृत्ति अर्थात् स्वाभाविक वृत्ति—भक्ति लुप्तप्राय हो पड़ती है। चाहे जैसे भी हो, सौभाग्यवश जीवका चित्स्वरूपगत राग (कृष्णके प्रति अनुरक्ति) उदित होने पर ही जीव कृतार्थ होता है। प्रेमोदयके साथ-साथ स्वभावतः ही रागोदय भी होता है। परन्तु विषयोंमें आसक्त जीवका जो जड़ विषयमें राग दीख पड़ता है वह विकृत राग है—शुद्ध राग नहीं। उस समय जीवका स्वाभाविक

राग सुप्तप्राय या आच्छादित रहता है। इस सुप्त या आच्छादित स्वाभाविक रागको जाग्रत करनेके लिये सदुपदेशोंकी बड़ी आवश्यकता होती है। वेद-वेदाङ्ग ऐसे उपदेशोंके भण्डार हैं। इन शास्त्रोंके शासनमें रहकर उनके उपदेशोंका आचरण करनेसे जिस भक्ति-प्रवृत्तिका उदय होता है, उसे वैधी-भक्ति कहते हैं।

अब रागानुगा भक्तिका नीचे संक्षेपमें विवेचन किया जा रहा है। श्रीजीव गोस्वामी भक्ति-संदर्भमें लिखते हैं—

"तत्र विषयिणः स्वाभाविकी विषय-संसर्गेच्छातिशयमयः प्रेमा रागः। यथा चक्षुरादीनां सौन्दर्यादौ, तादृश एवात्र भक्तस्य श्रीभगवत्यपि राग इत्युच्यते।" विषयी पुरुषोंको स्वाभाविक विषय-संसर्गसे विषयोंके प्रति प्रेमके रूपमें जो अत्यधिक प्रीति होती है, उसे राग कहते हैं। सौन्दर्य देखकर जिस प्रकार आँखें अधीर हो उठती हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णके प्रति भक्तकी जो प्रवृत्ति होती है, उसे 'राग' कहते हैं। ऐसे रागके प्रति स्वाभाविक रुचि सम्पन्न व्यक्तिके अनुगत होनेपर जो रुचि पैदा होती है, उसे रागानुगा भक्ति करते हैं। रागानुगा भक्तिके अधिकारके विषयमें श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

रागात्मिकैक-निष्ठा ये ब्रजवासि-जनादयः।
तेषां भावाप्तये लुब्धो भवेदत्राधिकारवान्॥
तत्तत्भावादिमाधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते।
नात्र शास्त्रं न युक्तिञ्च तल्लोभोत्पत्ति-लक्षणम्॥

(भ.र.सि. १/२/२९१-२९२)

ब्रजवासियोंका कृष्णके प्रति भाव ही रागात्मिका-भक्तिका सर्वश्रेष्ठ और एकमात्र उदाहरण है। यह भाव ब्रजके अतिरिक्त

और कहीं भी नहीं दिखलाई पड़ता। अब श्रीकृष्णके प्रति व्रजवासियोंके भावको लक्ष्यकर वैसा ही भाव प्राप्त करनेके लिये जिस सौभाग्यशाली जीवको लोभ होता है, वह व्यक्ति रागानुगा-भक्तिका अधिकारी हैं। उन मधुर भावोंके सम्बन्धमें श्रवण करनेपर भी जब तक लोभ न हो, तब तक उसमें प्रवेश नहीं हो सकता। रागानुगा भक्तिके साधनमें लोभ ही एकमात्र अधिकारका हेतु है, शास्त्र और युक्ति नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस प्रकार वैधी-भक्तिके अधिकारका हेतु एकमात्र श्रद्धा है, उसी प्रकार रागानुगा भक्तिके अधिकारका एकमात्र हेतु है—लोभ। यहाँ शंका हो सकती है कि पहले जिस श्रद्धाको शुद्ध-भक्तिके अधिकारका हेतु बतलाया गया है, वह श्रद्धा क्या असम्पूर्ण है? यदि वह श्रद्धा किसी एक प्रकारकी भक्ति-अधिकारका ही हेतु है, तब उसे समस्त प्रकारके भक्ति अधिकारोंका हेतु क्यों बतलाया गया था? इस शंकाका समाधान यह है कि केवल श्रद्धा ही शुद्धाभक्ति-अधिकारका हेतु है। श्रद्धाके अभावमें किसी प्रकार भी शुद्धाभक्तिका उदय नहीं होता। सिद्धान्त यह है कि वैधी-भक्तिमें शास्त्र विश्वासमयी श्रद्धा ही एकमात्र हेतु है और रागानुगा-भक्तिमें भावमाधुर्य-लोभमयी श्रद्धा ही एकमात्र हेतु है।

एकमात्र श्रद्धा ही—चाहे वह विश्वासमयी हो अथवा लोभमयी हो—दोनों प्रकारकी शुद्धाभक्तिके अधिकारका हेतु है।

वैधी भक्तिके अधिकारी तीन प्रकारके होते हैं—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

'उत्तमो मध्यमश्च स्यात् कनिष्ठश्चेति स त्रिधा।'

(भक्तिरसामृतसिन्धु १/२/१६)

उत्तम अधिकारीका लक्षण—

शास्त्रे युक्तौ च निपुणः सर्वथा दृढ़निश्चयः।
प्रौढ़ श्रद्धोऽधिकारी यः स भक्तावुत्तमो मतः॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु १/२/१७)

—अर्थात् जो शास्त्र और युक्तिमें निपुण और सब प्रकारसे दृढ़ निश्चय होते हैं, वे उत्तम और प्रौढ़ श्रद्धायुक्त अधिकारी हैं।

मध्यम वैध-भक्तिके अधिकारी का लक्षण—

यः शास्त्रादिष्वनिपुणः श्रद्धावान् स तु मध्यमः।

(भक्तिरसामृतसिन्धु १/२/१८)

शास्त्र आदिमें निपुणप्राय और श्रद्धालु व्यक्ति ही मध्यम हैं अर्थात् कठिन तर्क आदि उपस्थित होनेपर उसका उत्तर देनेमें तो समर्थ नहीं होते, परन्तु मन ही मन अपने सिद्धान्तपर दृढ़ताके साथ श्रद्धावान होते हैं।

कनिष्ठका लक्षण—

यो भवेत् कोमलश्रद्धः स कनिष्ठो निगद्यते।

(भक्तिरसामृतसिन्धु १/२/१९)

कनिष्ठभक्त शास्त्र आदिमें कुछ-कुछ निपुण होते हैं और इनकी श्रद्धा कोमल अर्थात् कच्ची होती है। युक्ति और तर्क आदिसे उनकी श्रद्धाको बदला जा सकता है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि इन तीन प्रकारके श्रद्धालु व्यक्तियोंमें ही शास्त्रविश्वास और शास्त्रोंके अधीन युक्ति-मिश्र श्रद्धा देखी जाती है। रागानुगा-भक्तिके अधिकारियोंके लोभके तारतम्यानुसार उन्हें भी उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ—इन तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है।

उपसंहारमें वक्तव्य यह है कि मानव मात्रका भक्तिमें अधिकार है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज, गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी—सबका भक्तिमें अधिकार हो सकता है—यदि उनकी शास्त्र और साधु-गुरुकी वाणियोंके प्रति श्रद्धा हो। पढ़ लिखकर शास्त्र-अध्ययन द्वारा हो अथवा अनपढ़ होनेपर सत्संगमें शास्त्रके सिद्धान्तोंके श्रवण द्वारा ही हो, शास्त्र निर्णीत भक्तिकी सर्वोत्तमता बोध होते ही ऐसा कहा जा सकता है कि उस व्यक्तिको श्रद्धा हो गयी है। अथवा भगवान्‌की लीला-कथाओंका श्रवण करते-करते रागात्मिक भक्त ब्रजवासियोंके अनुगत होनेकी इच्छासे जब लोभमयी श्रद्धा उत्पन्न हो, तब भी ऐसा कहा जा सकता है कि उसका शुद्ध-भक्तिमें अधिकार हो गया है। ज्ञान, वैराग्य, विवेक, धर्म-चर्चा, शम-दम और योगाभ्यासके साधनोंसे भक्तिका अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। साम्प्रदायिक दीक्षा प्राप्त करनेपर भी जबतक उत्तम अधिकारी नहीं बन जाय, तबतक उक्त उत्तमा भक्तिमें प्रवेश नहीं होता। उनकी भक्तिको भक्त्याभास कहा जा सकता है। उत्तम अधिकार प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करनेकी नितान्त आवश्यकता है। परन्तु ऐसा तभी हो सकता है जबकि सत्सङ्गमें श्रवण और कीर्त्तन किया जाय। श्रवण-कीर्त्तनमें अत्यन्त आग्रह और उस समय अश्रु-पुलक और नृत्य आदि भाव दिखलानेसे ही उत्तमाधिकार प्राप्त हो गया—ऐसा कदापि नहीं समझना चाहिये। क्योंकि उक्त लक्षणसमूह भक्त्याभासमें भी प्रकाशित होते हैं। शुद्ध-भक्तिके प्रारम्भमें जो थोड़ी बहुत आर्द्रता और स्वरूप-लाभके विषयमें आग्रहता देखी जाती हैं, वह भक्त्याभासगत चरम लक्षणके प्रति-फल रूप

मूर्छा आदिसे भी अतिशय श्रेष्ठ होती है। अतएव हमें विशेष सावधानीके साथ शुद्ध भक्ति प्राप्त करनेके लिये प्रबल प्रयत्न करना चाहिये। भक्ति अधिकार किस प्रकारसे पाया जाय—इसके लिये विशेष चेष्टा होनी चाहिये, नहीं तो भगवत्प्राप्तिकी कोई सम्भावना नहीं है। विश्ववैष्णवदास निम्नलिखित श्लोकोंका प्रचार करते है—

श्रद्धा लोभात्मका या सा विश्वासरूपिणी यदा।
जायतेऽत्र तदा भक्तौ नृमात्रस्याधिकारिता॥१॥
न सांख्यं न च वैराग्यं न धर्मो न बहुज्ञता।
केवलं साधुसंगोऽयं हेतुः श्रद्धोदये ध्रुवम्॥२॥
श्रवणादि–विधानेन साधुसङ्ग–बलेन च।
अनर्थापगमे शीघ्र श्रद्धा निष्ठात्मिका भवेत्॥३॥
निष्ठापि रुचितां प्राप्ता शुद्धभक्त्यधिकारिताम्।
ददाति साधके नित्यमेषा प्रथा सनातनो॥४॥
असत्सङ्गोऽथवा भक्तावपराधे कृते सति।
श्रद्धापि विलयं याति कथं स्याच्छुद्धभक्तता॥५॥
अतः श्रद्धावता कार्यं सावधानं फलाप्तये।
अन्यथा न भवेद्भक्तिः श्रद्धा प्रेम–फलात्मि का॥६॥

—लोभात्मिका या शास्त्र–विश्वास रूपिणी श्रद्धाका जब उदय होता है, तभी मानवमात्रका शुद्ध–भक्तिमें अधिकार उत्पन्न होता है। सांख्य, वैराग्य, वर्णाश्रम–धर्म अथवा पाण्डित्य श्रद्धा उत्पन्न होनेके हेतु नहीं हैं। श्रद्धाके उदयका हेतु है—एक मात्र ऐसे साधुका सङ्ग, जो श्रीकृष्णकी लीला–कथाओंके अतिशय प्रेमी हों। श्रद्धाके उदय होते ही कनिष्ठाधिकार उत्पन्न हो जाता

है। जब श्रवण आदि साधन-भक्तिके अनुशीलन और सत्सङ्गके प्रभावसे अनर्थ दूर हो जाते हैं तथा श्रद्धा कुछ गाढ़ी होकर निष्ठात्मिका हो जाती है, तब शुद्धाभक्तिमें मध्यमाधिकार पैदा होता है। पुनः श्रवणादि साधन भक्तिका अनुष्ठान करते-करते एवं अपनेसे उत्तम अधिकारवाले व्यक्तिके सङ्ग-प्रभावसे निष्ठा कुछ और गाढ़ी होनेपर रुचि स्वरूप हो पड़ती है। जिस साधकको ऐसी रुचि पैदा हो जाय, वे उत्तमाधिकारी हैं। ऐसे उत्तमाधिकारी साधक ही शुद्ध-भक्ति लाभ करते हैं। यही शुद्ध भक्ति प्राप्त होनेकी सनातनी प्रथा है। परन्तु इस साधन-क्रममें यदि असत्सङ्ग अर्थात् विषयोंमें आसक्त या निर्विशेष चिन्तामें आसक्त व्यक्ति या व्यक्तियोंका सङ्ग हो जाय अथवा शुद्ध-भक्तोंके प्रति अवज्ञा आदि किसी प्रकारसे अपराध हो जाय, तो कोमल और मध्यम दोनों प्रकारकी श्रद्धाएँ जड़से सूख जाती हैं और साधक शुद्ध-भक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसी दशामें वह या तो छाया-भक्त्याभास और नहीं तो अधिक अपराध होने पर प्रतिबिम्ब-भक्त्याभासमें आबद्ध हो जाता है। अतएव जबतक उत्तमाधिकार प्राप्त न हो जाय, तबतक श्रद्धालु पुरुषको विशेष सावधान रहना चाहिये, नहीं तो प्रेम-फलात्मिका शुद्ध-भक्तिको पाना कठिन है।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु।